कल्याण
वर्ष ४४]
श्रीकृष्णसंवत—५०७०
[अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०२७, अगस्त १९७०

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—भगवान् सूर्यनारायणकी जय [कविता] ... १०५७
२—कल्याण ('शिव') ... १०५८
३—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश (पुराने सत्सङ्गसे) ... १०५९
४—शरणागति [पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री-देवरहवा बाबाका उपदेश] (प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी)] ... १०६३
५—एक महात्माका प्रसाद (प्रेषक—श्री 'माधव') ... १०६४
६—पक्षियोंमें परहितकी भावना (श्रीनारायण-प्रसादजी विश्वकर्मा) ... १०६६
७—आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ... १०६७
८—सारे कुसङ्गका त्याग कर सत्सङ्ग करो [कविता] ... १०६९
९—आप अपने साधनको जड-विज्ञानकी कसौटीपर मत कसिये (अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज) ... १०७०
१०—पतझड़ [कविता] (श्रीकैलाश पंकज श्रीवास्तव, एम्० ए० (पू०) ... १०७४
११—रजस्वलाधर्म और उसका वैज्ञानिक रहस्य (अनन्तश्रीविभूषित तत्त्वचिन्तक स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी महाराज) १०७५
१२—सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन ... १०८१
१३—आपको अभी बहुत दिन जीना है! (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ... १०८४
१४—धनका अभिमान नहीं करना चाहिये (श्रीरामकृष्ण परमहंस) ... १०८९
१५—भक्तिप्रियो माधवः (श्रीनिरञ्जनदासजी धीर) १०९०
१६—प्रलयंकर (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ... १०९२
१७—प्रेमी जादूगर (श्रीउमाशंकरसिंहजी) १०९५
१८—तुम्हारे जीवनकी गहरी जड़ें (श्रीराबर्ट एल्० स्टीवेन्सन, प्रेषक-अनुवादक—श्रीदिलीपकुमारजी मरतिया) ... १०९७
१९—श्रीकृष्ण-महिमाका स्मरण (गीता-वाटिका, गोरखपुरमें जन्माष्टमीपर हनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण ... १०९८
२०—गोदुग्ध और गोबरका वैज्ञानिक महत्त्व (श्रीनारायणस्वरूपजी शर्मा, संसद्-सदस्य) ११११२
२१—पढ़ो, समझो और करो ... ११११२

चित्र-सूची

१—भगवान् सूर्यनारायण (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२—भगवान् सूर्यनारायण (तिरंगा) ... १०५७

श्रीकृष्णसंवत्—५०७०

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.२५ (१५ शिलिंग) जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ साधारण प्रति भारतमें ५० पैसे विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
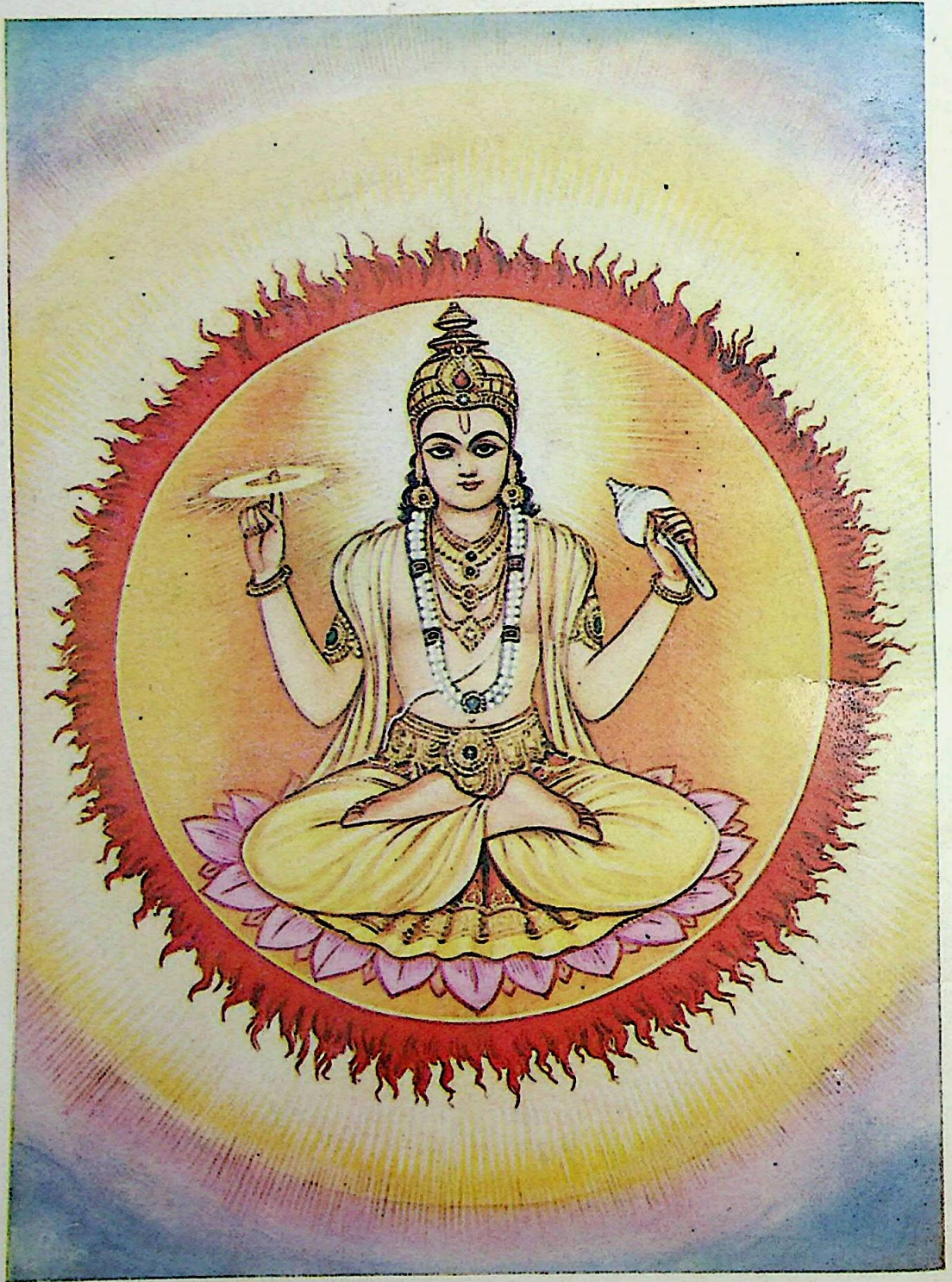
भगवान् सूर्यनारायण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

देवाधिदेव भगवन् कामपाल नमोऽस्तु ते । नमोऽनन्ताय शेषाय साक्षाद् रामाय ते नमः ॥
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय परिपूर्णतमाय च । असंख्याण्डाधिपतये गोलोकपतये नमः ॥

वर्ष ४४ | गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०२७, अगस्त १९७० | संख्या ८ पूर्ण संख्या ५२५

भगवान् सूर्य नारायणकी जय

आदिदेव आदित्य दिवाकर विभु तमिस्रहर ।
तपन भानु भास्कर ज्योतिर्मय विष्णु विभाकर ॥
शङ्ख-चक्रधर रत्नहार-केयूर-मुकुटधर।
लोकचक्षु लोकेश दुःख-दारिद्र्य-कष्टहर ॥
सविता देव अनादि सृष्टि-जीवन-पालनपर ।
पाप-तापहर मङ्गलकर मङ्गलविग्रह-वर ॥
महातेज मार्तण्ड मनोहर महारोगहर ।
जयति सूर्य नारायण, जय-जय सर्वसुखाकर ॥

याद रक्खो—जिसको अपने जीवनमें सच्चे संत-महापुरुषका सङ्ग प्राप्त हो चुका है, उसके समान सौभाग्यवान् और कोई नहीं है। ऋषभदेवजीने कहा है—'महापुरुषोंकी सेवा-सङ्गति मुक्तिका और विषय-कामियोंका सङ्ग नरकका द्वार है। महापुरुष वही हैं, जो समचित्त हैं; शान्त, क्रोधरहित, सबके हितचिन्तक और सदाचार-सम्पन्न हैं। जो भगवान्के प्रेमको ही एकमात्र पुरुषार्थ मानते हैं, जिनकी केवल विषयचर्चा करनेवाले लोगोंमें तथा प्राणी-परिस्थितिरूप भोग-सामग्रियोंमें अरुचि है।'

याद रक्खो—भगवत्प्रेमी भक्त महात्माओंके लव-मात्रके सत्सङ्गके साथ स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है? जडभरतजीने बतलाया कि 'महापुरुषोंकी चरणधूलिसे जबतक जीवन अभिषिक्त नहीं होता, तबतक केवल तप, यज्ञादि कर्म, दान, अतिथि-दीनसेवा, वेदाध्ययन, देवोपासना आदि किसी भी साधनसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि महापुरुषोंके समाजमें सदा पवित्रकीर्ति श्रीहरिके गुणोंकी ही चर्चा होती रहती है; वहाँ भोगचर्चा होती ही नहीं। और वह भगवत्कथा—हरिचर्चा मोक्षार्थी पुरुषकी बुद्धिको भगवान्में जोड़ देती है।'

याद रक्खो—जिन महात्माओंकी बुद्धि सर्वत्र सम-दर्शन करती है, जिनका हृदय पूर्णरूपसे भगवान्के प्रति समर्पित है, उन साधुपुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकारका होना।

याद रक्खो—महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ अवश्य है, बड़ी चाह होनेपर भगवत्कृपासे ही प्राप्त होता है और मिलनेपर भी महात्माओंको पहचानना हमारी बुद्धिके लिये वैसे ही कठिन है, जैसे पत्थर तौलनेके बड़े तराजू-पर हीरा तौलना; पर यह निश्चित है कि महात्माका दर्शन-सङ्ग अमोघ है। मनुष्यकी वृत्तिके अनुसार उसका स्वाभाविक मङ्गलमय आध्यात्मिक फल अवश्य ही होगा। अतएव महात्माओंका सेवन करो; उनके कहे अनुसार दैवी सम्पत्तिकी साधना तथा भजन बढ़ाते रहो। किसी महात्माकी न कभी निन्दा करो, न अपमान करो।

याद रक्खो—शवरूप जड शरीरको आत्मा माननेवाले लोग ईर्ष्यावश महापुरुषोंकी चाहे सदा ही निन्दा करते रहें—महापुरुष उनकी चेष्टापर ध्यान नहीं देते; क्योंकि निन्दा नाम-रूपकी ही होती है और महापुरुष नाम-रूपसे परे होते हैं। पर महात्माओंके चरणोंकी धूलि उन लोगोंके इस अपराधको न सहकर उनके तेज-ओजको नष्ट कर देती है। महापुरुषोंकी निन्दा वास्तवमें बड़ा ही जघन्य कार्य है, जिसे दुष्टलोग किया करते हैं। श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्को बताया था कि 'जो लोग महापुरुषोंका अनादर-अपमान करते हैं, उनका वह कुकर्म उनकी आयु, लक्ष्मी, यश, धर्म, लोक-परलोक, विषयभोग और कल्याणके सब-के-सब साधनोंको नष्ट कर देता है।' अतएव निन्दा तो किसीकी न करे, पर महापुरुषोंकी निन्दा-अपमान तो कभी भूलकर भी न करे।

याद रक्खो—जो अपने-आपको सर्वथा मिटाकर केवल भगवान्के हो चुके हैं, उन भगवान्के जनोंमें और भगवान्में भेदका अभाव होता है। वे भगवान्के साथ घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। अतएव उनका सेवन भगवान्का ही सेवन है। संत-महात्माके सेवनका अभिप्राय है—उनके द्वारा बताये हुए मार्गपर संदेहरहित तथा उत्साहयुक्त होकर अनवरत चलते रहना, उनके बताये हुए आचरणोंको जीवनमें उतारना, वैसे ही बनना, अपनी जानमें इसमें कभी भी जरा भी त्रुटि न होने देना। फिर भगवत्कृपासे तथा महात्माके सङ्गके अव्यर्थ प्रभावसे सारे विघ्नोंका नाश होकर भगवान् या भगवान्के सुदुर्लभ दिव्य प्रेमकी प्राप्तिसे जीवन सफल हो ही जायगा।

'शिव'

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

(पुराने सत्सङ्गसे)

भगवान्‌की प्राप्तिके कुछ सरल साधन

शास्त्रोंमें भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन बताये गये हैं। पर कुछ साधन ऐसे हैं, जो सबके लिये हितप्रद हैं, जिनमें समय कम अपेक्षित होता है, पर जो प्रत्यक्ष लाभकारी होते हैं तथा जो लोक एवं परलोक—दोनोंमें हितप्रद होते हैं—ऐसे साधनोंको नियमकी भाँति काममें लाना चाहिये। ऐसे कुछ साधन इस प्रकार हैं—

१—प्रत्येक माता-बहिन-भाई—सबको अपनी आत्माके कल्याणके लिये भगवान्‌के नामका जप अधिक-से-अधिक नियमसे करना चाहिये। जो जितना जप कर रहे हैं, वे उससे कुछ और बढ़ाकर करनेकी चेष्टा करें।

२—उठते, बैठते, चलते—सब समय भगवान्‌को याद करनेका अभ्यास करना चाहिये। पाँच मिनट, दस मिनट, पंद्रह मिनट, आधा घंटा—करते-करते निरन्तर याद करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसके लिये चार सुगम उपाय हैं—

(क) प्रतिदिन एकान्तमें बैठकर करुणभावसे गद्गद वाणीसे भगवान्‌से प्रार्थना करें—'हे परमेश्वर! मैं हृदयसे आपकी स्मृति करना चाहता हूँ। आपसे भीख माँगता हूँ कि आपकी स्मृति बनी रहे।'

(ख) नियमपूर्वक सत्सङ्ग करें। कहीं सत्सङ्ग नहीं मिले तो शास्त्र एवं सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करें।

(ग) बार-बार ऐसा विचार करें—'मानव-जीवनका समय मूल्यवान् है। मनुष्यका शरीर मिल गया, यह भगवान्‌की दया है। यदि इस बार भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रह गये तो हमारे समान कौन मूर्ख है? अमूल्य समय अमूल्य काममें ही लगना चाहिये। भगवान्‌की स्मृति अमूल्य है। इस विचारसे भगवान्‌की स्मृति स्वाभाविक होगी।

(घ) मृत्युको बराबर याद रक्खें—बार-बार यह विचार करें कि 'मृत्यु' न जाने कब आ जाय। मृत्युके समय भगवान्‌की स्मृति रहनी ही चाहिये; अतः जबतक निरन्तर भजन न हो तबतक बड़ा खतरा है।

—इन चार उपायोंको काममें लानेसे भगवान्‌की स्मृतिमें बड़ी सहायता मिलती है।

३—अपने गुरुजनोंको पद एवं अधिकारकी मर्यादाके अनुरूप प्रतिदिन प्रणाम करें। जो गुरुजन समीप न हों, उन सबको मानसिक प्रणाम करें।

४—सबके साथ प्रेमका व्यवहार करें, सबका हित कैसे हो, यह बात सोचें और यथाशक्ति उसके अनुसार आचरण करें। सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनके साथ प्रेम करें।

५—अपनी योग्यता एवं सामर्थ्यके अनुसार सबकी सेवा करें। जो बड़े हैं, पूज्य हैं, दुखी हैं—उनकी सेवाका अधिक महत्त्व है। सबको भगवान् समझें और इसी भावसे सबकी सेवा करें। अपने पास जो भोग-पदार्थ तथा ऐश्वर्यके साधन हैं तथा जो और प्राप्त हों, उन्हें दूसरोंकी सेवामें लगावें और इसमें अपना अहोभाग्य समझें। सेवामें दो वस्तुओंकी आवश्यकता है—सेवाके उपकरणकी एवं शारीरिक श्रमकी।

दोनोंका समान महत्त्व है । पहलीमें ममताका त्याग करना पड़ता है और दूसरीमें अहंताका । सेव्यको भगवान् मानकर सेवा करें तो हमें भगवत्सेवाका ही लाभ होता है । सेवाको भगवान्की सेवा बनाना यह सेवकके हाथकी बात है । निरन्तर इस भावको बनाये रक्खे कि 'साक्षात् नारायण ही इस रूपमें प्रकट होकर सेवा ले रहे हैं' तो वह सेवा नारायणकी ही सेवा होगी ।

६—मान-प्रतिष्ठाका त्याग करें । मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा आध्यात्मिक दृष्टिसे मरणकी इच्छा है। अच्छे-अच्छे पुरुष इसमें फँस जाते हैं और साधनसे च्युत हो जाते हैं । कञ्चन-कामिनीका त्याग करनेवाले भी मान-बड़ाईमें जाकर रुक जाते हैं । अतएव मान-बड़ाई-प्रतिष्ठासे सदा सावधान रहें ।

७—इन्द्रियोंको एवं मनको संयमित रक्खें । संयम मनुष्यकी रक्षाके लिये किलेका काम करता है तथा साधन करनेकी शक्ति प्रदान करता है । जो व्यक्ति संयमको महत्त्व नहीं देता, उसके सब साधन निश्चय ही असफल होते हैं । वह कोई भी काम सुचारु रूपसे नहीं कर सकता । अतएव शारीरिक एवं मानसिक—दोनों प्रकारके संयमको अपनावें ।

८—प्रतिदिन नियमितरूपसे प्रेमपूर्वक स्वाध्याय करें । वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामचरितमानस, महापुरुषोंकी वाणियाँ आदि स्वाध्यायके लिये उत्तम हैं । स्वाध्यायसे भगवान्के तत्त्व, रूप, गुण, ऐश्वर्य, महत्त्व, लीला आदिका ज्ञान होता है तथा अपने कर्तव्यका बोध होता है ।

९—सबसे महत्त्वकी बात है कि अपने परम प्रिय प्राणाराम प्रभु मोहनको कभी दिलसे नहीं बिसारें । प्राण भले ही चले जायँ, आपत्ति नहीं, पर वे प्राणप्राण कभी हृदयसे न जायँ । जहाँ नेत्र जायँ वहीं परमात्माको देखें, कानसे उनकी चर्चा सुनें, वाणीसे उनके नामका जप करें, शरीरसे उनकी सेवा करें, मनसे उनका चिन्तन-स्मरण करें—इस प्रकार अपनी सारी इन्द्रियोंको सदा भगवान्में लगाये रक्खें ।

सबमें अपने इष्टदेवको समझकर सबकी सेवा करें

जबतक मृत्यु दूर है, शरीर नीरोग है, तबतक हमें अपने उद्धारका प्रयत्न कर लेना चाहिये । वही हमारा मित्र है, वही हमारी धर्मपत्नी है, वही हमारा बन्धु है, जो हमको भगवान्की ओर लगाता है; नहीं तो सब स्वार्थके सम्बन्धी हैं । हम जिस आश्रममें हैं, उसी आश्रमके धर्मका पालन कर हम भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं । गृहस्थमें रहते हुए ही हम भगवान्की ओर लग सकते हैं । अतएव सब बातोंपर विचारकर जीवनके एक-एक क्षणको अमूल्य समझना चाहिये और उसे भगवान्के स्मरण-भजनमें बिताना चाहिये । नहीं तो, महान् हानि है । शास्त्रमें अनेक प्रकारके साधनोंका वर्णन है । महात्मा तुलसीदासने रामायणमें एक सहज साधन बताया है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

भगवान् सर्वत्र हैं; उनके चरण, नेत्र, हाथ, मस्तक आदि सब जगह हैं । इससे सब जगह, सबमें भगवान्को अनुभव करके सबकी सेवा करनी चाहिये ।

सबकी सेवा करनेके कई भाव हो सकते हैं । जैसे—

(१) सब भगवान्की संतान हैं, सब हमारे भाई हैं, अतएव सबकी सेवा करना हमारा परम कर्तव्य है ।

(२) सब हमारा आत्मा है; अतएव सबके रूपमें हम अपनेको ही अनुभव कर सबकी सेवा करें ।

भाईसे कभी वैर भी हो सकता है, पर अपनी आत्माके प्रति तो कभी परायापन भी नहीं हो सकता।

(३) सब हमारे इष्टदेवके स्वरूप हैं। कभी क्रोधमें आकर अपने-आपको भी मनुष्य नुकसान पहुँचा सकता है, पर अपने इष्टदेवके प्रति इसकी सम्भावना नहीं रहती। अतएव सबमें अपने इष्टदेव भगवान्‌को अनुभव कर सबकी सेवा करनी चाहिये।

इस प्रकारकी सेवाके लिये योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। इसके साधन हैं—सत्य-अहिंसा-ब्रह्मचर्यका पालन, काम-क्रोध-लोभ आदिका त्याग, प्रभुका ध्यान, बाहर-भीतरकी शुद्धि, सबके साथ पवित्र व्यवहार तथा हृदय खोलकर गद्‌गद वाणीसे करुणभावके साथ प्रभुसे प्रार्थना करना—'हे नाथ! ऐसी कृपा करें, जिससे सब रूपोंमें मैं आपका अनुभव कर सकूँ।' भगवान् बड़े प्रेमी एवं दयालु हैं; वे जीवकी इस प्रार्थनाको अवश्य सफल करते हैं।

सदा भगवान्‌को देखते रहिये; कभी निकम्मा न रहिये

मनुष्यको कभी निकम्मा नहीं रहना चाहिये। जो मनुष्य कभी निकम्मा नहीं रहता, उसकी सब जगह पूछ होती है, कामचोरकी कहीं भी पूछ नहीं। परमात्मा दीनोंका साथी है, मूर्खका भी साथी है, पापीका भी साथी है, पर कामचोरका साथी नहीं है।

खूब काम करे, भूतकी ज्यों। एक कथा है—एक भूत था। एक आदमीने भूतको सिद्ध किया। भूत प्रकट हुआ। भूतने कहा—'मैं तुम्हारा सब काम करूँगा; पर शर्त यही है कि मुझे निरन्तर काम बताना होगा। जिस दिन काम नहीं बताओगे, उस दिन मैं तुमको खा जाऊँगा।' तदनन्तर जो भी काम बताया जाता, भूत सब तुरंत कर देता। आदमी बहुत परेशान हुआ। उसने अपने भाईसे परामर्श किया। भाईने कहा—'इसके लिये एक बाँस लाकर गाड़ दो और भूतसे कह दो कि इसपर चढ़ो और उतरो। जबतक मैं दूसरा काम नहीं बताऊँ, यही करते रहो।' अपने भी एक भूत लगा हुआ है। अपना मन ही भूत है। इसको भी एक काम दे दें। अपना हृदय घर है और भगवान्‌का स्वरूप ही बाँस है। उसकी धारणा करना ही बाँस गाड़ना है। 'चरणोंसे लेकर मस्तकतक तथा मस्तकसे लेकर चरणोंतक परमात्माका चिन्तन करता रहे'—मनको यही बताना है। कभी भगवान्‌के चरणोंको देखे, कभी कमर देखे, कभी आभूषण देखे। चरणोंसे मस्तकतक, और मस्तकसे चरणतक भगवान्‌को ही देखना है। कभी शङ्ख देखे, कभी गदा देखे, कभी चक्र देखे, कभी पद्म देखे—इस प्रकार निरन्तर भगवान्‌को देखता रहे। साथ ही भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्रको मनसे स्मरण करता रहे। बस, इससे मन वशमें हो जायगा और हमारा जीवन सफल होगा।

भगवान्‌की प्राप्ति करानेमें महात्माओंका महत्त्व

जो भगवान्‌के शरण होना चाहता है, उसे चाहिये—मनमें ऐसी इच्छा रखते हुए गद्‌गद वाणीसे भगवान्‌से प्रार्थना करे—'प्रभो! मेरा तन, मन, धन—सब आपका है। मैं क्या करूँ, किस प्रकार इनको आपके समर्पण करूँ?' शुद्धभावसे भगवान्‌से प्रार्थना करनेपर हृदयमें स्वतः भाव उत्पन्न होगा कि 'दैवी-सम्पत्तिका आश्रय ग्रहण करो और आसुरी-सम्पत्तिका यथासम्भव त्याग करो। अर्थात् जो तन-मनके कार्य भगवान्‌की ओर ले जानेवाले हैं, उन्हें अपनाओ; जो भगवान्‌की ओरसे हटानेवाले हैं, उनका त्याग करो।' हृदयकी इस प्रेरणाके अनुसार दृढ़तासे आचरण करो, तनिक भी विचलित मत होओ। जब हम शक्ति रहते हुए भी हृदयकी प्रेरणाके अनुसार काम नहीं करते तो

समझना चाहिये कि हमारे शरणापन्न होनेमें उतनी ही कमी है ।

भगवान्‌के शरण होनेमें महापुरुषों एवं संतोंसे बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है । महापुरुषोंसे स्पष्ट व्यवस्था मिल सकती है कि 'ऐसा करो, ऐसा मत करो ।' मनकी प्रेरणाके अनुसार करनेमें बहुधा धोखा होता है । वह प्रेरणा होती है—'कामप्रेरित' और हम मान लेते हैं उसे 'भगवान्'की । भगवान्‌की वास्तविक प्रेरणा कौन-सी है, यह निर्णय करना कठिन होता है । महापुरुषोंके आश्रयमें भूलका डर नहीं रहता । जैसे मनमें प्रेरणा हुई—'अमुक स्थानपर संकट है, शरीर एवं धनसे सेवा करनी चाहिये ।' तुरंत ही मनमें दूसरी प्रेरणा होती है—'स्त्री-बच्चोंको छोड़कर वहाँ सेवा करने कैसे जाओगे तथा इतने रुपये इस काममें लगानेपर घर-खर्चके लिये क्या बचेगा ?' हम मनके धोखेमें आ जाते हैं, स्वयं जाकर सेवा करनेका विचार छोड़ देते हैं और सेवाकार्यके लिये रुपये भी कम भेजते हैं । पर महापुरुषका आश्रय होनेपर ऐसे मौकेपर वे हमारी रक्षा कर लेते हैं । वे स्पष्ट बता देते हैं कि 'अमुक प्रेरणा भगवान्‌की है और अमुक प्रेरणा मनका धोखा है ।'

शरण होनेमें अहंता एवं ममता सबसे बड़ी बाधाएँ हैं । जबतक अपनी बुद्धि काम करती रहती है, तबतक हम भगवान् या महात्मा किसीके भी शरण नहीं हो सकते । अतएव जब हमें कोई महापुरुष मिल जायँ तो हमें चाहिये कि हम अपनी सम्पूर्ण अहंता-ममताको उनके चरणोंपर अर्पण कर दें, फिर चाहे वे इन्हें मिट्टीमें ही मिला दें । महापुरुष इन्हें स्वीकार कर हमें भगवान्‌की शरण प्राप्त करा देंगे ।

महात्माओंको अपना सब कुछ अर्पण कर दें और उन्हींके कहे अनुसार अपना जीवन बनावें

जैसे बीमा कम्पनीमें जीवनका, वस्तुओंका बीमा बेचा जाता है, वैसे ही पारमार्थिक बीमा भी बिकता है । इसमें विशेष पारमार्थिक लाभ प्राप्त होता है । बीमा भगवान् लेते हैं और प्रीमियमके रूपमें 'मैं' और 'मेरापन' देना पड़ता है । जो जितना 'मैं' और 'मेरापन' देता है, उसकी उतनी ही बीमा बिक गयी । सौदा दो प्रकारसे हो सकता है—चाहे दलालकी मार्फत करें, चाहे सीधा कम्पनीके मालिक स्वयं परमात्माके साथ कर लें । दलालकी मार्फत सौदा होनेसे दलाल हमें विशेष लाभ दिलवानेका प्रयत्न करता है । संत-महात्मा भगवान्‌की बीमा-कम्पनीके दलाल हैं । उनकी मार्फत अपना 'मैं', 'मेरापन' अर्पण करनेसे सुविधा होती है । वे अपने विशेष ज्ञानसे हमें अप्रत्याशित लाभ दिलवा सकते हैं ।

लौकिक व्यवहारमें हम देखते हैं कि रोगी व्यक्ति वैद्य-डाक्टरको अपना शरीर अर्पण कर देता है—डाक्टर-वैद्य अपनी समझ-रुचिके अनुसार चाहे जो ओषधि एवं सूई दें । पथ्य-परहेज भी वह डाक्टर-वैद्यके कहे अनुसार करता है । इसी प्रकार पारमार्थिक साधनामें 'संत-महात्मा'को अपना सब कुछ अर्पण कर दें और उन्हींके कहे अनुसार अपना जीवन चलावें । माना, आजके युगमें बड़ा धोखा है; जिन्हें हम संत-महात्मा मानते हैं, सम्भव है, वे संत न हों और हमें धोखा दें; पर अपना लक्ष्य ठीक होनेपर—सच्चे हृदयसे केवल भगवान् या भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लक्ष्यसे किये गये समर्पणमें धोखा होगा तो भगवान् वहाँ हमें सँभाल लेंगे, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षमें वे हमें धोखेसे सावधान कर देंगे । यदि हम धोखेमें फँस गये हैं तो वे हमें धोखेसे निकाल लेंगे ।

रोगी डाक्टर-वैद्यके प्रति अपनेको अर्पण करके यदि उनके कहनेके विरुद्ध खान-पान करे तो डाक्टर उसके लिये जिम्मेदार नहीं होता । हाँ, भूल करके यदि रोगी खा लेता है तो डाक्टर उसपर नाराज होकर भी उसे हानिसे बचानेका प्रयत्न करता है । इसी प्रकार संत

महात्माके प्रति समर्पण करनेपर भी यदि साधक भूल करता है, बुराई करता है तो संत-महात्मा उसे उस बुराईसे—भूलसे बचाते हैं, बशर्ते कि वह साधक अपनी भूल-बुराईको बिना किसी छिपाव-संकोचके संत-महात्माको बता दे तथा उस सम्बन्धमें उनके आदेशका अक्षरशः पालन करे।

शरणागति

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी)

भक्तोंको सदा यह समझना चाहिये कि 'मैं भगवान्के सम्मुख हूँ और संसार पीछे छूट गया है।' इन शब्दोंके क्या भाव हैं, इसको भी जानना और समझना आवश्यक है। यह मानी हुई बात है कि मनुष्य जैसा विचार करता है, वह क्रमशः वैसा ही बन जाता है। विचारोंकी हमारे यहाँ विशेष प्रधानता मानी गयी है। अब इन शब्दोंके भावपर विचार कीजिये। 'मैं भगवान्के सम्मुख हूँ'—इसका अर्थ यह है कि 'मैं भगवान्की शरणमें हूँ।' इसीको 'शरणागति' कहते हैं। जबतक भक्त भगवान्की शरणमें नहीं जाता, उसे भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते। जो भगवान्की शरणमें चला जाता है, उसे भगवान् निर्भय बना देते हैं। संत तुलसीदासने रामायणमें कहा है—

'मम पन सरनागत भयहारी'

सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना।

भगवान् शरणागत-वत्सल हैं। वत्सलका भी भाव बड़ा सुन्दर है। जैसे गौ अपने (बछड़ेके वदनपर लगे हुए मैलेको स्वयं अपनी जीभसे चाट-चाटकर साफ करती है, उसे निर्मल बना देती है और) बछड़ेको देखकर पिन्हा जाती है, वैसे ही भगवान् भी अपने भक्तोंको पाकर द्रवित हो जाते हैं और उनके पापोंका नाश कर देते हैं—

सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

भगवान्के सम्मुख जानेका यही अर्थ है कि वे भगवान् अपने भक्तोंके सैकड़ों-सैकड़ों जन्मोंके पापोंको क्षमा कर देते हैं। बड़े-से-बड़ा पापी भी, जिसने अपनेको भगवान्को समर्पण किया, तुरंत धर्मात्मा बन गया। गीतामें भगवान्के वाक्य हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

अतिशय दुराचारी भी जो अनन्य भावसे भगवान्की शरणमें चला गया, उसे साधु ही मानना चाहिये और यथार्थमें वह धर्मात्मा हो ही गया और भगवान्ने उसका उद्धार कर दिया। यही भगवान्के सम्मुख होनेका अर्थ है। अब थोड़ा विचार उसपर भी कीजिये कि 'संसार पीछे छूट गया'—इससे क्या भाव है। संसार तो माया है और वह नश्वर है। जब भगवान्की प्रतीति होगी, तो मायाका विनाश होगा ही। इसका भी साथ-साथ विचार रखना होगा कि मनुष्यसे माया छूटे। मायासे छूटनेका सरल साधन है कि अपनी इच्छाओंका नाश किया जाय। जहाँ मनुष्यकी एक इच्छाकी पूर्ति होती है कि दूसरी इच्छा सामने चली आती है और उसकी भी पूर्तिके लिये विकलता आरम्भ हो जाती है इस तरह इच्छा-पर-इच्छा आती गयी और उसका एक जाल बन गया। यही संसार है, जिससे विरक्त होनेका

भाव मनमें करना है और जिसे क्रमशः छोड़ना है। यह जगत् नश्वर है; एकमात्र भगवान् ही शाश्वत हैं। इस जगत्का नाश होना ही है, चाहे इसे हम मानें या न मानें और एकमात्र भगवान्की ही स्थिति सदा-सर्वदा है और रहेगी।

भगवान् कालोंके भी काल हैं और महाकाल हैं। उनको काल नहीं खा सकता। वे ही कालको भी खा जाते हैं। इसलिये ऐसे भगवान्, जिसके सम्मुख और सहायक हों, उसे भय किसका! भगवान्को केवल भक्ति और भाव चाहिये। वे तो भक्तोंके अधीन रहनेवाले हैं और जहाँ भक्त उन्हें शुद्ध मनसे याद करते हैं, वहाँ वे झट पहुँच जाते हैं। इसका प्रमाण लेना हो तो किसी भी भक्तका जीवन-चरित्र उठाकर देखिये। आपको पता लग जायगा कि भगवान्की शरणागतिका क्या रहस्य है। भगवान्को अपने सम्मुख रखनेका एक यह भी भाव है कि आपके वे पथनिर्देशक हों। यह बड़ा उच्च भाव है, जो अर्जुनके जीवनमें प्रत्यक्ष है। यदि अर्जुनने अपने जीवन-रथका सारथि भगवान्को न बनाया होता तो महाभारतकी लड़ाईमें पाण्डवोंकी जीत नहीं होती। इसलिये हर एक भक्तका यह ध्यान होना चाहिये कि वह भगवान्के सम्मुख है और भगवान् भी उसके सम्मुख हैं। भगवान्से सदा यही विनय करनी चाहिये कि वे हमलोगोंके आगे रहकर हमलोगोंका मार्ग ठीकसे निर्देशन करें और कहीं पतन न होने दें। यही शरणागति और उसका रहस्य है। जो भी भक्त मेरे पास आते हैं, मैं भी उनसे इन्हीं वाक्योंको कहलवाकर इसका संकेत करता हूँ ताकि वे इसके रहस्यको यथार्थमें समझें और तदनुसार कार्य करें।

एक महात्माका प्रसाद

(प्रेषक—श्री 'माधव')

जो स्वभावसे ही जा रहा है, उसे आप रोक नहीं सकते। उसकी तो यथाशक्ति सेवा कर दो अथवा उससे क्षमा माँग लो या उसे प्रीतिपूर्वक बिदाई दे दो। ऐसा करते ही हम उससे अभिन्न हो जायँगे, जिससे हमारा नित्य-सम्बन्ध एवं स्वरूपकी एकता है।

× × ×

समस्त सामर्थ्य शान्तिमें निहित है, संग्रहमें नहीं। शान्ति त्यागमें निहित है, रागमें नहीं। त्यागमें स्वाधीनता और संग्रहमें पराधीनता है। पराधीनताका अन्त करनेके लिये हमें संग्रहरहित जीवनका अनुभव करना होगा। ऐसा करनेमें साधक सदा स्वाधीन है।

× × ×

संग्रहरहित जीवनमें ही प्रीतिका प्रादुर्भाव होता है। प्रीतिमें ही नित नवरस विद्यमान है। रसके अभावमें ही विकारोंका उदय होता है और प्रीतिके अभावसे ही रसका अभाव होता है। अतः निर्विकार होनेके लिये प्रीतियुक्त जीवन अनिवार्य है।

× × ×

प्रीति 'नित्यप्राप्त' से ही सम्भव है, किसी अन्यसे नहीं। जिससे संयोग स्वीकार कर लिया है, उसकी 'सेवा' करना है और जो नित्य प्राप्त है, उससे 'प्रेम' करना है। जिसकी सेवा करना है, उससे 'ममतारहित' होना है और जिससे प्रेम करना है, उससे 'अभिन्न' होना है और यही वास्तवमें साधन-तत्त्व है।

× × ×

जो हृदय करुणारससे भर जाता है, उससे राग-द्वेष स्वतः मिट जाते हैं। राग-द्वेषके मिटते ही त्याग और प्रेम अपने-आप आ जाते हैं। त्यागसे चिर-शान्ति तथा

नित्य-जीवनकी उपलब्धि होती है। प्रेम अगाध अनन्त-रस प्रदान करनेमें समर्थ है। प्रेम एक ऐसा अलौकिक, दिव्य, चिन्मय तत्त्व है कि जो कभी घटता नहीं, मिटता नहीं और न कभी उसकी पूर्ति ही होती है; अपितु, वह नित्य-नूतन ही रहता है। इसी कारण उसकी आवश्यकता सर्वदा समस्त विश्वको रहती है। इतना ही नहीं, समस्त विश्व जिसके किसी एक अंशमें है, उस अनन्तसे भी अभिन्न करनेमें प्रेम ही समर्थ है; क्योंकि प्रेम किसी प्रकारकी दूरी तथा भेद नहीं रहने देता। इस दृष्टिसे केवल प्रेम ही प्राप्त करने योग्य तत्त्व है।

× × ×

प्रीतिकी अभिव्यक्ति अचाह होनेमें निहित है और सर्वस्व दे डालनेमें ही प्रीतिका उपयोग है—अन्य किसीमें नहीं। प्रीति स्वरूपसे चिन्मय तथा अनन्त है। इसी कारण प्रीतिके उपयोगमें नित-नूतन-रस है।

× × ×

दुःखका भय तथा सुखकी लोलुपता ही मनको दिव्य तथा चिन्मय नहीं होने देती। अतः दुःखके भय तथा सुखकी लोलुपताका साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। दुःख केवल जागृति प्रदान करनेके लिये और सुख उदारतापूर्वक सेवा करनेके लिये मिला है। सुख-दुःखके सदुपयोगसे मन स्वतः शान्त, शुद्ध और दिव्य हो जाता है।

× × ×

सुख-लोलुपताका हेतु क्या है? स्वार्थभावने ही सुख-लोलुपताको जन्म दिया है। स्वार्थभाव जलानेके लिये सेवाभावको अपना लेना आवश्यक है। वस्तुओंके रहते हुए ही उनकी ममतासे रहित हो जाना है।

× × ×

समयके सदुपयोगमें ही समस्त जीवनका सदुपयोग निहित है। किसी भी वस्तुके बदलेमें समय नहीं मिल सकता। इस दृष्टिसे समयका सदुपयोग तथा आदर करना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक व्यर्थ चेष्टा तथा व्यर्थ चिन्तनका अन्त कर दे।

× × ×

प्रीति रस प्रदान करती है, आसक्ति सुखकी आशा बढ़ाती है। इस दृष्टिसे प्रीति दाता और आसक्ति भिखारी बनाती है। अथवा यों कहो कि आसक्ति पराधीन और प्रीति स्वाधीन बनाती है। आसक्ति कोई भी ऐसी नहीं होती, जिससे अरुचि न हो जाय; किंतु प्रीति नित्य-नव-रुचि जाग्रत् करती है। उसमें कभी अरुचि नहीं होती; क्योंकि प्रीति नित-रस-नूतन, अनन्त, नित्य, चिन्मय है, जहाँ आसक्ति अनित्य, जड और सीमित है। आसक्तिकी निवृत्ति होती है, परंतु प्रीतिकी नित-नव वृद्धि होती है; क्योंकि प्रीति तो उस अनन्तका स्वभाव है और आसक्ति प्रमादका परिणाम है। प्रमादरहित होते ही आसक्ति सदाके लिये मिट जाती है। आसक्तिकी निवृत्ति और प्रीतिकी जागृति ही वास्तविक जीवन है।

× × ×

सुखकी आशा ही तीव्र जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा जाग्रत् नहीं होने देती। यदि हम सुखकी आशामें आबद्ध न होते तो संदेहकी वेदना अथवा प्रिय लालसा-की जागृति वर्तमान जीवनकी वस्तु हो जाती। सुखकी आशा हमें वर्तमानका उपयोग नहीं करने देती। इस दृष्टिसे सुखकी आशा समस्त असफलताओंका हेतु है। इतना ही नहीं, सुखकी आशा ही अमरत्वसे मृत्युकी ओर, प्रकाशसे अन्धकारकी ओर, सत्यसे असत्यकी ओर गतिशील करती है। अतः सुखकी आशा रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते। इस दृष्टिसे सुखकी आशाका त्याग ही विकासका मूल है।

× × ×

साधक जो साधन करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है, इसका एकमात्र कारण यह है कि उसने साधन-

निर्माण करते समय इस बातपर ध्यान नहीं दिया कि उसकी साधना उसकी योग्यता, रुचि, विश्वास एवं प्रियताके अनुरूप है या नहीं। साधकको उसी साधनसे सिद्धि मिल सकती है, जो उसे रुचिकर हो, जिसके प्रति अविचल विश्वास हो एवं जिसके करनेकी उसमें योग्यता हो। अतः साधककी योग्यता, रुचि, प्रियता एवं विश्वास-के अनुरूप निर्मित साधन करनेमें न तो असमर्थता ही है और न असफलता ही। इस दृष्टिसे किसी भी साधकको साधन-निर्माण तथा साध्यकी प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये; अपितु, वर्तमानमें ही साधन-निर्माण कर सिद्धि प्राप्त करनेके लिये नित्य-नव उत्कण्ठा जाग्रत् करनी चाहिये। यही सफलताकी कुञ्जी है।

× × ×

साधन-तत्त्व साधकका जीवन है और साध्यका स्वभाव है, अतः विश्राम उस अनन्तका स्वभाव है और हमारा जीवन है। विश्राम आते ही दीनता तथा अभिमान-की अग्नि सदाके लिये शान्त हो जाती है—शरीर विश्वके काम आ जाता है और हृदयमें प्रीतिकी गङ्गा लहराने लगती है, जो उस अनन्तसे अभिन्न कर देती है; क्योंकि प्रीति दिव्य एवं चिन्मय तत्त्व है। प्रीतिसे अभिन्न होनेमें ही हमारे जीवनकी सार्थकता है।

पक्षियोंमें परहितकी भावना

घटना बिलकुल सत्य है। लड़केका नाम रामदयाल है। उसके पिताका नाम धनीराम है। ये लोग इकलहरा कोयला-खानके कैम्प नं० ४ में रहते हैं। बच्चेकी उम्र करीब १२ साल है।

यहाँ सभी लोगोंको पीनेका पानी लेनेके लिये कैम्पसे करीब २ फर्लांग दूर जाना पड़ता है।

तारीख ६। १२। ६९ को यह लड़का रामदयाल तथा उसकी एक बहिन पानी लेनेके लिये कुएँपर गये और वहाँसे पानी लेकर करीब ११ बजे लौट रहे थे। इस कुएँपर जानेके लिये एक ट्राम लाइन पार करनी पड़ती है, जो बेड़कुई कोयला खानकी है। ट्रामद्वारा खानसे निकाला हुआ कोयला रेलवे-साइडिंग-तक पहुँचाया जाता है। उसे पार करनेके लिये लाइनके ऊपर तीन पुलिया थोड़ी-थोड़ी दूरीपर बनी है। रामदयाल जैसे ही लाइनके पास आया कि एक सर्प निकला और उसने रामदयालके पैरमें अपनी पूँछकी तरफसे दो अंटी लगा दी। लड़का रामदयाल घबरा गया और अपने सिरपर रखे हुए मटकेको एक हाथसे पकड़कर एकदम मौन खड़ा हो गया।

इस घटनाको महुआके पेड़पर बैठा हुआ नीलकण्ठ पक्षी देख रहा था और उसी पेड़पर कुछ तोते भी बैठे थे। अंटी लगा लेनेके बाद, ज्यों ही उस सर्पने बच्चेको काटनेके लिये अपना फन ऊपर उठाया, त्यों ही उस नीलकण्ठने लपककर सर्पके फनपर इस कदर चोंचसे प्रहार किया कि वह सर्प व्याकुल हो गया। नीलकण्ठ और वह तोता दोनों मिलकर सर्पके फनपर बार-बार प्रहार करने लगे। फनसे खूनकी धारा बह चली। सर्प व्याकुल हो गया और बच्चेको छोड़कर चला गया। करीब आधा घण्टातक सर्प बच्चेके पैरमें लिपटा रहा।

पीछेसे उसकी बहिन आयी और उसने यह हाल देखा तो अपने माता-पिताको खबर दी। वे बेचारे घबराकर दौड़े। साथमें कैम्पके लोग भी दौड़े। जाकर देखा, बच्चा रामदयाल अपने सिरपर मटका लिये खड़ा है। रामदयालने न मटका छोड़ा और न गिराया। उसको वहाँसे घर लाकर पूछा गया कि क्या हुआ। उसने सब हाल बताया। पक्षियोंके प्रहारसे सर्प बच्चेको नहीं काट पाया। सर्पका रंग काला था। लंबाई करीब ४ फीटसे ज्यादा रही होगी। इसके बाद उन सब लोगोंने भगवान् शंकरकी स्तुति की। यह आँखों-देखी घटना है।

—श्रीनारायणप्रसाद विश्वकर्मा

आस्तिकताकी आधारशिला

विवेकका आश्रय कर अपनी चेष्टाओंका नियन्त्रण करें

कभी शान्त-चित्तसे हमने विचार किया होगा, तो हमें पता लग गया होगा कि हमारा मन सुखकी प्राप्तिके लिये प्रतिक्षण लालायित है। जीवनके कण-कणमें सुखकी वासना घुँसी हुई है। जानमें, अनजानमें, हमारी जो कुछ भी चेष्टा होती है, वह होती है केवल सुखकी प्राप्तिके लिये। हमें यदि स्वप्नमें भी भान होने लगे कि हमारी अमुक चेष्टासे दुःखका कोई आसार नजर आ रहा है, तो तत्क्षण हम उस चेष्टासे विरत हो जायँगे। यह मानवमात्रके लिये ही नहीं, पशु-पक्षियोंतकके लिये लागू होता है। मानवमें और पशु-पक्षियोंमें इतना ही अन्तर है कि मानवको विवेक प्राप्त है और पशु-पक्षी भोग-योनि होनेके कारण अपनी सम्पूर्ण चेष्टाओंमें सर्वथा परतन्त्र हैं; परंतु उन चेष्टाओंके मूलमें हेतु सुखकी प्राप्ति ही है, भले ही परिणाममें दुःखकी उपलब्धि हो। मनुष्य ही एक ऐसी सृष्टि है, जिसमें प्रभुके परम मङ्गलमय विधानके अनुसार उसे 'विवेक' नामकी वस्तु प्राप्त है और उस विवेकका आश्रय करके वह अपनी चेष्टाओंका नियन्त्रण कर सकता है।

पूरी सच्चाईके साथ हम भगवान्‌की ओर चल पड़ें, फिर अपनी अहैतुकी कृपाका प्रकाश वे स्वयं कर देंगे

सत्यका सत्य यह है कि यहाँ भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है; जब आँखें खुल जाती हैं, तो केवल, केवल, केवल, 'एक' ही बचा रह जाता है। वह 'एक' कैसा है, क्या है, कितना बड़ा है—यह भी वही अनुभव करता है जिसकी आँखें खुली हुई हैं अथवा जो स्वयं भगवान् हैं, वे ही, केवल वे ही जानते हैं कि वे क्या हैं, कैसे हैं।

उस एक नित्य सत्य स्थितिमें प्रतिष्ठित होनेसे पहले हमारी जो मान्यता, जो निश्चय उस सत्यके सम्बन्धमें है—उसे लेकर ही हम चल पड़ें, पूरी सच्चाईके साथ चल पड़ें। बिना पेंदीके लोटेकी तरह यदि कभी पूर्व, कभी पश्चिम, कभी दक्षिण, कभी उत्तरकी ओर मुड़ते रहेंगे, लुढ़कते रहेंगे, तो समझ लें, हमारे [illegible] पूरी सच्चाई नहीं है; हम भगवान्‌की ओर पूरी सच्चाईके साथ चलना नहीं चाह रहे हैं। यह सच है कि कभी-कभी बड़े भीषण तूफानमें पेंदी लगा हुआ लोटा भी दस हाथ दूर खिसक जाता है, वैसे ही मायाके भीषण चपेटेमें ऊँचे-से-ऊँचे साधक भी कभी क्षणभरके लिये डगमग-से हो जाते हैं। किंतु उनका डगमग-सा होना भी उनके सत्यमें, नित्य सत्य भगवान्‌में पूर्ण प्रतिष्ठित होनेके लिये ही होता है। जैसे खूँटेको जमीनमें गाड़नेवाला उसे बार-बार हिलाकर देखता है कि यह हिल तो नहीं रहा है—वैसे ही भगवान् स्वयं ही उसको—किसी ऊँचे साधकको हिलाकर उससे खेलते हैं। देखते हैं कि यह हिलता है या नहीं? तथा फिर जैसे खूँटेको हिलते देखकर खूँटा गाड़नेवाला और भी वेगसे उसपर चोट मारता है, उसे अडिग, अचल गाड़कर ही छोड़ता है, वैसे ही भगवान् उस ऊँचे साधकको मायाके हाथसे हिलाकर, उसे हिलते देखकर उसपर अपनी अपरिसीम अहैतुकी कृपाका तत्क्षण प्रकाश कर देते हैं; उसे अपनेमें मिलाकर अचल पूर्ण प्रतिष्ठित करके ही छोड़ते हैं।

किंतु यदि हम अपनी ठीक-ठीक जाँच करें, तो हमें यही दीखेगा कि ऊँचा साधक क्या, हम तो परमार्थ-साधक ही नहीं हैं। हम तो अभीतक विषय-साधक बने हुए हैं, जैसे बिना पेंदीका लोटा हो और बार-बार उसी दिशामें लुढ़क रहे हैं, जिधर हमें विषयरूप मैला अपने अंदर भरनेके लिये प्राप्त हो जाय। हम तो उससे भी गये-बीते हैं, जो एक छोटा शिशु है, खेलमें गिर पड़नेके कारण मैलेमें सन गया है और अपनी माँको पुकार रहा है—'अरी मैया! तू दौड़कर आ जा री; मैं गिर पड़ा हूँ, मुझे मैलेमेंसे निकाल री!' हम तो उसी गड्ढेमें, उसी मैलेमें ही और भी सन जानेमें ही सुखका अनुभव कर रहे हैं और सोच रहे हैं—'माँ नहीं देख रही है, बड़ा अच्छा है!' परमार्थका साधक ऐसा नहीं होता। ऐसा साधक तो स्पष्ट ही विषयका साधक है और इसीलिये हमारी यह दुर्दशा है।

फिर भी घबरानेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँकी माँ भी देर हो जानेपर बच्चेको ढूँढ़ने बाहर निकल पड़ती है, फिर अनन्त—भूत, भविष्य, वर्तमानकी असंख्य माताओंका

एकत्रित प्यार जिन भगवान्‌के अपरिसीम प्यारके महासमुद्रकी एक बूँदमें ही समा जाता है; वे भगवान् तो हमारे पास ही अवस्थित रहकर, हमें देखकर हँस रहे हैं। ऐसे वे भगवान् क्या हमारे सामने प्रकट नहीं होंगे? अवश्य होंगे और हमारा सब मल धोकर हमें अपने अङ्कमें ले लेंगे, हमें अपनेमें मिला लेंगे।

प्रभुसे एक बार जुड़ना ही जीवनका सारा इतिहास बदल जानेका शुभ शकुन है

जिस क्षण किसी भी प्राणीने एक बार भी किसी भी निमित्तसे झूठ-मूठ ही प्रभुसे एक सम्बन्ध जोड़ लिया, उस क्षण ही सचमुच-सचमुच-सचमुच अनादि अनन्तकालीन जीवन-भूमिकाकी एक नयी रूपरेखा निर्मित हो गयी। अर्थात् अब वह आगे चलकर अवश्य, अवश्य, अवश्य उस शिशुकी भाँति प्रभुके चिद्विलासके रहस्यको जान जायगा, जो प्रभुके अङ्कमें नित्य विराजित रहकर, उनके चिद्विलासका नित्य-निरन्तर अनुभव करता हुआ परमानन्दमें निमग्न रहता है।

प्रभुसे एक बार जुड़ना ही जीवनका सारा इतिहास बदल जानेका मानो सचमुच सत्य परम मङ्गलमय शुभ शकुन है। अतएव हमने चाहे किसी भी निमित्तसे श्रीकृष्णको यदि एक बार पकड़ लिया है तो हमारे भावी जीवनकी योजना भी बन ही गयी। परिस्थितियोंमें उलट-फेर तो हमारे विश्वासकी कमीके कारण होता रहता है। यदि विश्वास पूर्ण होता, तब तो दो बातमें एक बात होकर ही रहती—या तो परिस्थितिका हमारे अभिलषित ढंगसे समाधान हो जाता अथवा हमारे मनसे परिस्थितिकी वासना निकलकर हमें शान्ति मिल जाती। परंतु विश्वासकी कमी होनेके कारण उलट-फेरका सामना करना पड़ रहा है; किंतु यह होते हुए भी वह बात तो सर्वथा सर्वांशमें अक्षुण्ण रहेगी ही जो श्रीकृष्णसे जुड़नेका अवश्यम्भावी परिणाम है कि हम उनके चिद्विलासका अनुभव करके ही रहेंगे।

हमारे किसी आचरणसे विश्वरूप प्रभुको कोई बुरी चीज मिले ही नहीं

अन्तिम साँसतक शरीरमें, इन्द्रियोंमें अभिव्यक्ति उसीकी होती रहे कि जिस पथसे जानेके लिये भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन-स्वरूप ऋषि-मुनि निर्देश कर गये हैं। सीधी भाषामें हम ऐसे समझें कि महासिद्ध होनेसे पहलेतक आचरणमें ऊँचे-से-ऊँचे साधकके द्वारा भी वैसा ही आचरण-व्यवहार होना चाहिये कि जिस आचरणसे विश्वरूप प्रभुको कोई बुरी चीज मिले ही नहीं। उसके आचरण ऐसे ही हों कि जिसका अनुकरण करके कोई बहक ही न सके; उसकी ओटमें आत्मवञ्चना कर ही न सके।

कोई कहे—'मैं तो भगवान्‌की शरणमें ही निरन्तर पड़ा रहता हूँ।' तो यह वाणीकी शरणागति भी बड़ी अच्छी चीज है। किंतु असली शरणागति होते ही क्या होता है? बड़ी तेजीसे उसके अंदर, शरणागतके अंदर कुप्रवृत्तिका नाश होने लगता है, उसे बुरी प्रवृत्तिकी ओरसे घृणा होने लगती है और क्षण-क्षणमें एक पवित्र पागलपनकी वृत्ति आरम्भ हो जाती है, चलती रहती है—'यह देखो, यह देखो, भगवान्‌की कृपा आ रही है; अरे, देखो, देखो, भगवान्‌की कृपा मेरे ऊपर बरस रही है ....' ऐसी शरणागतिकी धारामें यदि हम बह रहे हों, स्नान कर रहे हों, तब तो कोई बात नहीं, कोई भय नहीं; अन्यथा उपर्युक्त बातपर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

जो भी परिस्थिति उत्पन्न हो, उसमें हम श्रीकृष्णको लाकर बैठा दें

जो भी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों, उनमें हम श्रीकृष्णको लाकर बैठा दें और उनपर ही उस परिस्थितिका भार सौंप दें। तो परिणाम यह होगा कि उस परिस्थितिमें यथोचित प्रकाश अवश्य-अवश्य-अवश्य मिल ही जायगा। अर्थात् श्रीकृष्णकी अनन्त अपरिसीम कृपा हमें अपनी ओर खींच रही है, इसका अनुभव भी हो जायगा और साथ ही उस परिस्थितिका भी एक सुन्दर समाधान अवश्य प्राप्त हो जायगा। नहीं होता है, तो इसका विनम्र उत्तर यही है कि हम श्रीकृष्णको बीचमें ले ही नहीं आते हैं।

कोई भी विषम परिस्थिति हमारे सामने उपस्थित हुई हो, यदि सचमुच-सचमुच हम श्रीकृष्णको बीचमें ला रहे हों, तो उसका परिणाम यह निश्चित होगा कि उस परिस्थितिकी तो हमें विस्मृति हो ही जायगी, साथ ही मन, बुद्धि, चित्तमें मात्र श्रीकृष्णका ही अस्तित्व छा जायगा और थोड़ी देर बाद—हो सकता है एक दिन बाद, दो दिन बाद—हमारा जब उसकी ओरसे मन हटेगा तो हमें

भान यह होगा कि उस परिस्थितिका समाधान बड़े सुन्दर ढंगसे हो गया है और तत्क्षण यह भी भान हो जायगा कि सचमुच-सचमुच श्रीकृष्ण हमें अपनी ओर खींच रहे हैं।

किंतु होता है सर्वथा इसके विपरीत। हम तो दिन-रात परिस्थितिके चिन्तनमें, तज्जनित व्याकुलतामें अपना समय बिता देते हैं कि 'अरे, अबतक नहीं हुआ। कैसे क्या होगा?' मानो भगवान्‌को ज्ञान ही नहीं है कि कब, क्या, कैसे करना चाहिये? यहाँ तो सरल विश्वासके साथ जब एक बार कह दिया तो दूसरी बार कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। हमारा मन केन्द्रित हो जाना चाहिये केवल उनकी ओर। जिसको भार सौंप दिया, वह जाने। हम क्यों चिन्ता करें? बिगड़े या बने, हमें क्या मतलब? यह नितान्त सत्य है कि आजतक जो अपना भार श्रीकृष्णपर छोड़ गया है, छोड़ चुका है, उसको उस दरबारसे कभी निराशा नहीं मिली है, नहीं मिली है, नहीं मिली है; नहीं मिलेगी, नहीं मिलेगी, नहीं मिलेगी। निराशा तो उसे ही मिलती है, मिलती है और मिलेगी, मिलेगी, जो भगवान्‌पर न छोड़कर उस परिस्थितिपर अपना मन केन्द्रित किये हुए है और झूठ-मूठ कह रहा है कि 'मैंने अपना सब भार भगवान्‌पर छोड़ रक्खा है।'

विभिन्न परिस्थितियोंको उत्पन्नकर भगवान् हमें इस लायक बना रहे हैं कि हम धूल बन जायँ

जीवनके विभिन्न स्तरोंपर हमने न जाने कितने-कितने अनुभव किये होंगे—किसी बार सुख, किसी बार दुःख, उनका परिणाम हुआ होगा। पर वे स्थायी नहीं बन सके। जो दुःखद परिणाम हुए, वे विस्मृतिके गर्भमें चले गये और जो सुखद परिणाम हुए, वे दो-चार नये अभावोंकी सृष्टि कर नये दुःखके बीज बो गये और हम ज्यों के त्यों सुख-दुःखके झूलेमें आजतक झूलते रह गये। हमको इस झूलेपरसे उतरना पड़ेगा।

भगवान्‌की अनन्त अपरिसीम कृपाका समुद्र लहराकर अनेक बार हमें स्नान करा चुका और मानो कृपाने मुहर लगा दी कि अब हमें उसमें मिल ही जाना पड़ेगा। हम कितनी ही उछल-कूद मचायें, वह कृपाका सागर लहरा-लहराकर हमसे खेलता रहेगा और धीरे-धीरे तीन तरफसे बाड़ लगाता जायगा। मानो कृपा कहेगी कि पूर्वकी ओर बढ़े तो इतनी दूर बढ़ सकते हो, इतनी दूर भाग सकते हो; पश्चिमकी ओर इतनी दूर भाग सकते हो और दक्षिणकी ओर बचकर इतनी दूर भाग सकते हो। और उत्तरकी ओर तो मैं अनन्त सागरके रूपमें लहरा ही रही हूँ; जिधर तुम भागना चाह रहे हो। इस प्रकार धीरे-धीरे तीन तरफके द्वार हमारे लिये बंद कर देगी और हम नाचते-गाते, रोते-हँसते इधरसे उधर उस घेरेमें दौड़ते रहेंगे और सहसा यह होगा कि एक बड़ी उत्ताल तरङ्ग उस कृपासागरसे उठेगी; जो सम्पूर्ण घेरेको ऊपरतक भर देगी। उसीके प्रवाहमें बहते हुए हम अनन्त अपरिसीम सागरमें सदाके लिये विलीन हो जायँगे अर्थात् भगवान्‌से हमारा आत्यन्तिक तादात्म्य होकर, हमारी अहंताका सर्वथा विलय होकर आत्यन्तिक सच्चिदानन्दमय सुखमें हम एकात्मता लाभ कर लेंगे। इसीके लिये भगवान् हमसे निरन्तर खेल रहे हैं। विभिन्न परिस्थितियोंको उत्पन्न कर वे हमें इस लायक बना रहे हैं कि हम धूल बन जायँ; पत्थर जैसी अहंता अत्यन्त मृदुल रेणुका बन जाय; जिससे सागरमें मिलते ही वह सर्वथा सर्वांशमें सागरका स्वरूप ही बन जाय।

सारे कुसङ्गका त्यागकर सत्सङ्ग करो

जिनसे बढ़े तमोगुण तमकर, चले रजोगुण तमकी ओर।
आठों पहर भोग-चिन्तन हो, भोग-कामनाका हो जोर॥
दम्भ-दर्प-ममता-मद-भय-चिन्ता-विषादका हो विस्तार।
ढके विवेक, बढ़े तन-मनमें पापपूर्ण आचार-विचार॥
धर्म, कर्मफल, ईश्वरमें जिनसे उठ जाये मन-विश्वास।
हिंसामय अवैध भोगोंसे मिले न क्षणभर भी अवकाश॥
ऐसे देश-वेष-भोजन-साहित्य-मनुज सब हैं दुःसङ्ग।
इन्हें त्याग सत्वर मङ्गलमय सेवन करो नित्य सत्सङ्ग॥

आप अपने साधनको जड-विज्ञानकी कसौटीपर मत कसिये !

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

(१)

सम्पूर्ण लौकिक एवं वैदिक संस्कृत-वाङ्मयमें चिरकालसे 'विज्ञान' शब्दका व्यवहार होता रहा है । शिल्प-नैपुण्यसे लेकर अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व-पर्यन्त अर्थमें इसका प्रयोग मिलता है । विज्ञान ब्रह्म है, विज्ञान अन्तःकरण है, विज्ञान अनुभवात्मक ज्ञान है । यह सब प्रसङ्ग आकर-ग्रन्थोंमें देखने योग्य हैं । आजकल लौकिक-साहित्यमें इसका प्रयोग भूत-भौतिक वस्तुओंमें अनुलोम-प्रतिलोम परिणाम, उसकी प्रक्रिया और फल आदिके सम्बन्धमें होता है । साधन-विज्ञानका अर्थ भौतिक पद्धतिसे साधनोंकी गुणवत्ता और फलवत्ताका अनुसंधान हो तो साधन-च्युतिकी ही अत्यधिक आशङ्का है; क्योंकि जडके चूडान्त वैज्ञानिक भी साधनपरायण अथवा साध्योन्मुख देखनेमें नहीं आते । इसका कारण यह है कि वे नाम-रूपात्मक प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय जड पदार्थसे मानते हैं—और उसीके अनुसंधानमें संलग्न रहते हैं । उन्हें भी एकान्त, एकाग्रता, लगन, तन्मयता आदिकी अपेक्षा तो होती ही है और भोग तथा दूसरे कर्मोंसे अलग भी होना ही पड़ता है । आध्यात्मिक साधन-प्रणाली चैतन्य-विज्ञानके आधारपर होती है और जड-विज्ञान उसके सर्वथा विपरीत बहिर्मुख होता है । इसलिये पहले ही यह बात मनमें निश्चित कर लेना आवश्यक है कि हम चैतन्य या जड किस वस्तुको प्राप्त करनेके लिये साधनामें संलग्न हैं । लक्ष्यहीन साधना कहींका भी नहीं रक्खेगी ।

(२)

यदि हम यह मान लेते हैं कि यह जीवन और जीव भी जडसे ही निकलते हैं और जडमें ही लीन होते हैं, तो साधनाका अधिक-से-अधिक यह अर्थ हो सकता है कि हम अधिक दिनोंतक जियें, करें, भोगें और अपने अहंकी पूजामें लगे रहें । जीवनके पूर्व क्या है, उत्तर क्या है, अन्तर्देशमें क्या है और अन्तर्ज्ञान-स्वरूप आत्मा क्या है—इन प्रश्नोंके समाधानकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती और हम जीवनके अनेक गूढ़तम तत्त्वों तथा रहस्योंसे वञ्चित ही रह जाते हैं । यह अतीन्द्रिय तत्त्वके ज्ञानसे कतराने और मुकरनेकी प्रवृत्ति बुद्धिकी स्थूलताको सूचित करती है और अपने आपको प्रकाशसे वञ्चित करके अन्धकारमें निक्षिप्त करती है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषका कर्तव्य है कि वह भूत-भौतिक विज्ञानको ही सर्वस्व न मान बैठे, आत्मतत्त्व-विज्ञानके लिये भी अवश्य प्रयत्नशील हो—

'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।'

(३)

हम अपने जीवनमें रहनेवाली उच्छृङ्खलताओंको तीन विभागोंमें बाँट सकते हैं,

(क) देहकी उच्छृङ्खलता,
(ख) मनकी उच्छृङ्खलता और
(ग) वाणीकी उच्छृङ्खलता ।

इनको नियमित न करनेका अर्थ होता है—दैहिक जीवनमें डूब जाना । देहकी उच्छृङ्खलतामें कर्म और भोगकी उच्छृङ्खलता भी सम्मिलित है । शरीरसे दूसरेकी अदत्त वस्तुको ग्रहण करना, अवैध हिंसा करना और परस्त्रीसे सम्बन्ध—मुख्यरूपसे दैहिक कुकर्म हैं । रूक्षता, झूठ, चुगली और असङ्गत प्रलाप—वाचिक कुकर्म हैं । दूसरेका धन हड़पनेके उपायका चिन्तन, अनिष्ट-चिन्तन और व्यर्थके अभिनिवेश—मानसिक कुकर्म हैं । यदि इन तीनोंपर नियन्त्रण न किया जाय, काम-क्रोध-लोभ शरीरमें क्रियाशील होते रहें, और जड ही इच्छाका विषय रहे, तो इस अनियन्त्रित जीवनको जडत्व-प्राप्तिके सिवा और क्या फल मिल सकता है ? यह सर्वथा युक्तियुक्त है कि अपने जीवनकी दुष्प्रवृत्तियोंको नियन्त्रित करना चाहिये । थोड़े ही दिनोंमें इससे स्पष्ट हो जाता है कि देह नियम्य है और मैं नियन्ता । मैं जडदेहसे विलक्षण इसमें कर्ता, भोक्ता, वक्ता एवं मन्ताके रूपमें जीव हूँ, शरीर नहीं । इसका अभिप्राय यह है कि देहसे पृथक् आत्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये धर्मानुष्ठान एक वैज्ञानिक प्रणाली है और इससे हमें अपने चेतन रूपके सत्त्व, महत्त्व और तत्त्वके बोधमें पर्याप्त उन्नति प्राप्त होती है । यही एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जड-भावापत्तिसे रक्षा करती है और परलोक, पुनर्जन्म, यज्ञ, श्राद्ध, होम आदिकी अर्थवत्ता एवं प्रयोजनवत्ता सिद्ध करती है ।

(४)

स्वाध्याय, मौन, वाक्संयम, सत्यनिष्ठासे यह अनुभव होने लगता है कि वाणी मेरी है, मैं वाणीका नहीं हूँ। निषिद्ध कर्म, भोग और संग्रहके त्यागसे स्पष्ट हो जाता है कि देह मेरा है, मैं देहका नहीं हूँ। देह और वाणीको व्यवस्थित करनेके लिये आसन, प्राणायाम, व्रत, दान, यज्ञ, नाम-जप आदि साधन हैं। इन साधनोंका फल गणितके हलके समान तत्काल ही समझमें आने लगता है। भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके द्वारा, भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे, भिन्न-भिन्न इन्द्रियों और सामग्रियोंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञ आदि भी भिन्न-भिन्न फल देनेवाले होते हैं। इन्द्रियाँ अनेक हैं, वस्तुएँ अनेक हैं, देवता अनेक हैं; इसलिये स्वर्गादिमें स्रक्, चन्दन, वनितादि भी अनेक हैं। यज्ञ-यागादिकी साधना भेदकी कक्षामें होती है और भेदरूप फल देती हैं। फलमें भेद होनेके कारण इसको मुख्य साधना नहीं माना जाता। इसमें स्थान-विशेष, काल-विशेष, द्रव्य-विशेष सामग्री-विशेष, मन्त्र-विशेष, अधिकारी-विशेष —विशेषोंका साम्राज्य है। इसलिये यह एकेश्वर उपासना और आत्मनिष्ठ समाधि —दोनोंकी अपेक्षा निम्नकोटिका साधन है।

(५)

अन्तःकरणसे होनेवाली साधनाओंकी भी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया होती है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें जिसको 'भूत-सूक्ष्म' कहा गया है, सांख्यमें उसको 'तन्मात्रा' और न्याय-वैशेषिकमें उसको 'परमाणु' कहा गया है। वेदान्तकी रीतिसे आकाश भी सावयव है और व्याकरण-शास्त्रकी रीतिसे शब्दके भी परमाणु होते हैं। ऐसी स्थितिमें भूतसूक्ष्मसे बना हुआ हमारा अन्तःकरण जिन संस्कारोंसे युक्त रहता है, उसीके अनुसार साधनाकी आवश्यकता होती है। अन्तःकरणमें ही आकाश-की तन्मात्रासे शोक, वायुकी तन्मात्रासे काम, तेजस्की तन्मात्रासे क्रोध, जलकी तन्मात्रासे मोह और पृथिवीकी तन्मात्रासे भयकी उत्पत्ति होती है। किसीमें किसीकी और किसीमें किसीकी प्रधानता होती है। यह न आत्माका है, न आत्मा है। अन्तःकरणकी वृत्तियोंका तन्मात्राके अनुसार यह वर्गीकरण वैज्ञानिक प्रणालीके अन्तर्गत ही आ सकता है। अवश्य ही यह यान्त्रिक-विज्ञान नहीं, आध्यात्मिक विज्ञान है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें इसका अनुसंधान किया जा सकता है।

(६)

भक्ति-सिद्धान्तके अनुसार साधना-प्रणाली पूर्णरूपेण वैज्ञानिक है। पूजासे मन संसारका विस्मरण करके भगवत्स्मरण-की ओर अग्रसर होता है। आलम्बन स्थूल होनेपर भी मन स्थूल नहीं होता; क्योंकि सूक्ष्मरूपसे ईश्वर-भावना अपना काम करती रहती है। भावना मनमें ही होती है। 'भगवते अर्घ्यः,' 'भगवते पाद्यम्', 'भगवते आचमनीयम्'—सबमें सम्मुख भगवान् हैं। शरीर, वाणी और मन—तीनों भगवान्-के उद्देश्यसे क्रियाशील हैं। पूजाकी क्रिया, मन्त्रका उच्चारण और मनकी भावना—तीनों क्षण-क्षण बार-बार संसारकी स्मृतिको दबाते हैं और भगवत्-स्मृति उत्पन्न करते हैं। नाम भी क्रियात्मक होनेके साथ-ही-साथ अर्थ-प्रकाशक और भावनोत्पादक है। इसलिये नामजप या मन्त्रजपकी साधना भी वैज्ञानिक ही है। कई मन्त्र ऐसे होते हैं, जिनसे शरीरमें गरमी बढ़ती है, रक्तका ऊर्ध्वाभिसरण होता है। निरन्तर समगतिसे उच्चारित होनेके कारण प्राणको स्थिर एवं मनको एकाग्र कर देते हैं। अनेक मन्त्रोंके जपसे मुखपर भिन्न-भिन्न प्रकारके तेजका प्राकट्य और आकृतिमें परिवर्तन होता है। शरीरके रंगमें निखार, स्वरमें सौष्ठव, मूत्र-पुरीषकी अल्पता, आरोग्य, लाघव आदि गुण भी जपसे शरीरमें आते हैं। अपने लक्ष्यके सम्बन्धमें विवेककी जागृति होती है, आवरण भङ्ग होता है, समाधि लगती है। अनेक मन्त्रोंके जापकका मुख देखकर बताया जा सकता है कि वे किस मन्त्रका जप करते हैं। वस्तुतः बात यह है कि नस-नाड़ियों, रक्त, प्राणकी वृद्धि छेनी-हथौड़ेसे या ऑपरेशनके औजारोंसे नहीं की जा सकती। उसके लिये ध्वनिसे शरीरमें ही सूक्ष्म तरङ्गें उत्पन्न करके उनमें परिवर्तन किया जा सकता है। विशेष-विशेष आकृति उत्पन्न करनेके लिये विशेष-विशेष ध्वनियोंका प्रयोग किया जाता है। 'ॐ', 'राम', 'सोऽहं', 'कृष्ण', 'ह्रीं', 'क्लीं' आदि भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ शरीरके अंदर भिन्न-भिन्न परिणाम उत्पन्न करती हैं। यह बात सर्वथा वैज्ञानिक है कि तत्त्वोंके ध्वनियुक्त कम्पनसे उत्पन्न पदार्थ ध्वनियोंके द्वारा परिवर्तित किये जा सकते हैं। सृष्टिमें कम्पन और ध्वनिसे रहित कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये मन्त्र-जपकी साधना सर्वथा वैज्ञानिक है और अज्ञातरूपसे यह प्राणोंकी गतिका नियमन करके समाधि लगा देती है।

(७)

भक्तिके आचार्य इस विषयके निरूपणमें असावधान या इससे अनभिज्ञ रहे हों, ऐसी बात नहीं है। 'भक्तिरसामृत सिन्धु' के दक्षिण विभागान्तर्गत तृतीय लहरीमें सात्त्विक भावोंका निरूपण देखने योग्य है।

श्रीरूपगोस्वामीजी महाराजने कहा है कि "जब अपने प्राणधन श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाले भावोंसे साक्षात् अथवा किञ्चित् व्यवहित रूपमें चित्त आक्रान्त हो जाता है, तब उसको 'सत्त्व' कहते हैं। ऐसे चित्तमें जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनको 'सात्त्विक' कहते हैं। वे तीन प्रकारके होते हैं—स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष। जब चित्त अत्यन्त वेगशाली सत्त्वसे आक्रान्त हो जाता है, तब वह अपने आपको प्राणोंसे मिला देता है। प्राण विकार क्रमसे शरीरको क्षुब्ध करता है। इसीसे भक्तके शरीरमें बिना उसकी जानकारीके ही स्तम्भ आदि भाव प्रकट होते हैं। जब प्राण अपनेको शरीर स्थित पृथ्वीसे मिला देता है, तब भक्तका शरीर स्तम्भकी तरह ज्यों का त्यों खड़ा रह जाता है और जब प्राण जलसे मिलता है, तब आँसूकी धारा बहने लगती है। तेजसे मिलनेपर स्वेद और विवर्णता तथा आकाशसे मिलनेपर प्रलय। प्राण जब इन भूतोंसे न मिलकर अपनी प्रधानतासे रहता है, तब उसकी तीन गतियाँ होती हैं—मन्द, मध्यम और तीव्र। रोमाञ्च, कम्प और स्वरकी विकृति इन्हीं तीनोंसे होती है। यही भक्तके शरीरको बाहर भीतरसे क्षुब्ध करते हैं और उसमें सात्त्विक भावोंकी भिन्न भिन्न स्थितियोंको प्रकट करते हैं।"

स्पष्ट है कि हमारे रसिकगण भावोंकी वैज्ञानिक स्थितिका भी ध्यान रखते थे और उसका निरूपण करते थे। इन भावोंका ऐसा ही निरूपण अति प्राचीन विद्वान् श्रीहेमचन्द्र सूरिके 'काव्यानुशासन' में भी प्राप्त होता है। यहाँ केवल उदाहरणके रूपमें इसका उल्लेख किया गया है। वैसे इस प्रकारके बहुत अधिक वर्णन प्राप्त होते हैं।

(८)

योगदर्शनमें शरीरको स्थिर और मनको एकाग्र करनेके लिये जिन उपायों एवं युक्तियोंका वर्णन किया गया है, वे भी वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सर्वथा खरी उतरती हैं; क्योंकि अनुभवसे वे यथार्थ सिद्ध होती हैं। प्रश्न यह है कि अतीन्द्रिय वस्तुका साक्षात्कार करनेके लिये जड यान्त्रिक अथवा इन्द्रियोंमें ही उत्कर्ष आधान करनेवाला विज्ञान कहाँतक सहायक हो सकता है? पञ्चभूतोंके पीछे कौन है, इस विचारको तो अलग रहने दीजिये, बुद्धि और सुषुप्तिके पीछे ही कौन है, यह बात भी विज्ञानका विषय नहीं हो सकती।

शास्त्रोक्त साधन अन्तःकरणको शुद्ध करके किस युक्तिसे असत्त्वापादक और अभानापादक आवरणको दूर कर सकता है, यह एक विलक्षण विद्या है। प्राचीन ऋषि-मुनियोंके सामने भी यह प्रश्न जागरूक था। योगदर्शनके व्यासभाष्यमें यह कहा गया है कि यद्यपि शास्त्रीय अनुमान और आचार्योपदेशके द्वारा जिस वस्तुका निरूपण होता है, वह सत्य ही होता है; परंतु जबतक उनका अंश भी अपने अन्तःकरण और इन्द्रियोंका विषय न हो, तबतक सब कुछ परोक्ष-सा ही रहता है और मोक्षादि सूक्ष्म वस्तुओंके सम्बन्धमें दृढ़-बुद्धिका उदय नहीं होता। इसलिये उनके द्वारा बतायी हुई वस्तुओंका ही उपोद्बलन अर्थात् समर्थन करनेके लिये किसी-न-किसी वस्तुका साक्षात्कार होना चाहिये। एक देशका भी प्रत्यक्ष हो जानेपर मोक्षपर्यन्त सम्पूर्ण सूक्ष्म विषयोंमें आस्था हो जाती है। इसीके लिये चित्त-परिकर्मका उपदेश किया जाता है। इससे अन्तःकरणमें श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधिकी निर्विघ्न प्रतिष्ठा हो जाती है। यह चित्त-परिकर्म क्या है? नासाग्रमें धारणा करनेपर दिव्य गन्धकी संवित् होती है। जिह्वाग्रमें रसकी, तालुमें रूपकी, जिह्वा-मध्यमें स्पर्शकी और जिह्वा-मूलमें शब्दकी संवित् होती है। यह थोड़े ही परिश्रमसे सम्पन्न होता है। इससे चित्त स्थिर होता है, संशय कट जाते हैं और समाधि-प्रज्ञाका उदय होता है। चन्द्र-सूर्य आदिमें संयम करनेसे भी ऐसा होता है। थोड़े ही दिनोंमें अभ्याससे जब विलक्षण हृदय और रसका अनुभव होने लगता है, तब साधकके चित्तमें अपने आप ही दृढ़ता पाँव जमा लेती है।

अपने मनको इन्द्रियोंके द्वारा बाहर न निकलने देकर हृदयकमलपर ही स्थिर कीजिये। वहीं बुद्धि-सत्त्वका अनुभव होगा। वह अत्यन्त प्रकाशमान और आकाशके समान प्रथमान है। उसमें स्पष्ट स्थिति हो जानेपर सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, मणिके रूपमें मनःप्रवृत्ति विकल्पमान होती है। वैसी स्थितिमें चित्त निस्तरङ्ग महोदधिके समान शान्त, अनन्त, अस्मितामात्र हो जाता है। इस अवस्थामें स्पष्ट

अनुभव होगा कि संसारके शोक और दुःख मेरा स्पर्श नहीं कर सकते। अभ्यासके इस प्रत्यक्ष फलका अनुभव होनेपर दूसरे भी अननुभूत विषयोंकी ओर साधक अग्रसर हो सकता है।

(१) आसन यदि स्थिर न होता हो तो भूत और भविष्यके कृत एवं कर्तव्योंको भुलाकर अपने फणपर पृथ्वी धारण किये हुए शेषनागका ध्यान कीजिये। आसन स्थिर करनेका यह चमत्कारी प्रयोग है।

(२) आप अपनी आँखकी पुतलियोंको विना जोर लगाये जहाँकी तहाँ स्थिर छोड़ दीजिये। ध्यान रखिये वे चञ्चल न हों। आपका मन स्थिर हो जायगा।

(३) मुँह बंद रखिये, परंतु दाँत छू न जाय। जीभ न ऊपर लगे और न नीचे। मुखावकाशमें उसकी नोक खड़ी कर दीजिये। आपका मन स्थिर हो जायगा।

हमारा कहनेका अभिप्राय यह है कि आप साधनके मार्गमें एक-दो कदम चलें और फिर भी आपको चमत्कार न मालूम पड़े तो पूछिये कि क्या बात है? सभी साधनोंका एक विज्ञान है; परंतु वह यन्त्रके द्वारा साधित होनेपर आपके जीवनमें फलप्रद नहीं होगा। कम्प्यूटरके गणितसे बाधित द्वैत-भ्रम आपके भ्रमको निवृत्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

(९)

योगदर्शनमें मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाके रूपमें चित्तको प्रसन्न करनेके जिन साधनोंका उल्लेख किया गया है, वे सर्वथा व्यवहार-विज्ञानके अनुरूप हैं। जैनोंका 'त्रिरत्न' और बौद्धोंका 'पञ्चशील' भी उसी कक्षाके हैं। श्रीरामानुजाचार्यके 'साधन-सप्तक' और श्रीशंकराचार्यके 'साधन-चतुष्टय' भी अपने-अपने लक्ष्यके अनुरूप ही हैं। उपनिषद्, गीता, भागवत आदिमें भक्तोंके जो लक्षण बताये गये हैं, वे कहीं भी सामाजिक या भौतिक मनोविज्ञानके विपरीत नहीं हैं। कौन है ऐसा सृष्टिमें जो कह दे कि भक्तके अद्वेष्टा आदि लक्षण वैज्ञानिक नहीं हैं या शंकराचार्यके साधन-चतुष्टय आत्म-साक्षात्कारके अनुरूप नहीं हैं। जब लक्षण लक्ष्यको, साधन साध्यको, प्रमाण प्रमेयको ठीक-ठीक दिखा रहा है, तब उसके अवैज्ञानिक होनेकी शङ्का ही कहाँ रहती है?

(१०)

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि परमात्मा ही जीवके शरीरमें प्रविष्ट होकर वाणी, कर्म, गति, विसर्ग, घ्राण, रस, दृक्, स्पर्श, श्रुति, संकल्प, विज्ञान, अभिमान, सूत्रात्मा आदिके रूपमें प्रकट होता है। जैसे बीज भिन्न-भिन्न खेतोंमें पड़कर अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार विकसित होते हैं, वैसे ही संसारकी सब वस्तुएँ विकसित हो रही हैं। यह देखनेमें अनेक रूप है, परंतु वस्तुतः एक रूप है। कार्य-कारण, प्रमेय-प्रमाण अथवा ज्ञान-ज्ञेयके जितने भी भेद प्रतीत होते हैं, वे सब-के-सब सापेक्ष हैं। उनके सम्बन्धका ज्ञान पहले होता है, फिर उनके भेदकी प्रतीति होती है। उपासकोंका कहना है कि विश्व सापेक्ष है और ईश्वर निरपेक्ष। वेदान्तियोंका कहना है कि जीव-ईश्वरका भेद भी सापेक्ष ही है। भेदमात्र अध्यस्त है। अधिष्ठानके ज्ञानमें वह बाधित हो जाता है। भेदाभावोपलक्षित अधिष्ठान ही प्रत्यगात्मा है। यह बात सर्वथा सत्य है कि उत्पत्ति-विनाशशील अनेक रूप, नामरूपात्मक प्रपञ्च अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें ही कल्पित हैं। जो अद्वय तत्त्व प्रपञ्चाभावसे उपलक्षित है, वही प्रपञ्च-कल्पनाके अभावमें भी उपलक्षित है। इससे परमार्थ-सत्ताके स्वरूपका संकेत मिलता है। वह असत्य-विरोधी सत्य नहीं है, जडविरोधी ज्ञान नहीं है, सान्तविरोधी अनन्त नहीं है और परिच्छेद-विरोधी ब्रह्म नहीं है। वह अपनेमें अध्यस्त भेदमात्रका अविरोधी है। वह विरोधोंका विरोधी अविरोधी नहीं, उसका भी अविरोधी है। इसलिये ब्रह्ममें सत्य और मिथ्याका भी द्वन्द्व अथवा सापेक्षता नहीं है। श्रुतिने स्पष्ट कहा है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

जिसने मतिके अविषय रूपसे परमात्माको पहचान लिया, उसने सचमुच पहचान लिया। जिसने ऐसा समझा कि मैंने पहचान लिया, उसने नहीं पहचाना। जिन्हें ब्रह्म-विज्ञानका अभिमान है, ब्रह्म उनके विज्ञानका विषय नहीं है। जिन्होंने अनुभव कर लिया कि ब्रह्म विज्ञानका विषय नहीं है, उन्होंने वस्तुतः ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त कर लिया। ज्ञान और ज्ञेयका भेद बाधित हो जाना ही वस्तुतः ब्रह्मविज्ञान है; परंतु वह भेद और अभेदकी सापेक्षताके संघर्षसे बाधित नहीं होता, प्रत्युत अधिष्ठान-ज्ञानसे ही बाधित होता है।

(११)

अद्वैत-वेदान्तमें 'मिथ्या' शब्दका अर्थ दो प्रकारसे मानते

हैं—अपह्नव और अनिर्वचनीयता। पहलेका अर्थ है—सर्वथा प्रतीत न होना और दूसरेका अर्थ है—प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः न होना। मिथ्या शब्दकी इसी द्व्यर्थकताके कारण द्वैतवादियोंसे मतभेद हो गया है। द्वैतवादियोंका कहना है कि या तो तुम प्रपञ्चको ब्रह्मवत् सत्य स्वीकार करो या तो आकाश-कुसुमके समान असत्य। त्रिकालाबाधित सत्त्व अथवा त्रिकालासत्त्व। यह बीचमें अनिर्वचनीयता क्या बला है? अद्वैतवादी इस नियमको नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि एक तृतीय कक्षा भी हो सकती है। त्रिकालाबाध्य सत्ता ब्रह्म है, त्रिकालमें अप्रतीयमानतारूप असत्ता आकाश-कुसुममें है और उन दोनों प्रकारके सत्त्व-असत्त्वका अभाव शुक्ति-रजतमें है। प्रपञ्च आकाश-कुसुमके समान नितान्त असत् नहीं है और ब्रह्मके समान नितान्त सत् भी नहीं है। प्रपञ्चका व्यावहारिक सत्त्व है।

विचार करके देखें तो इस प्रसङ्गमें द्वैतवादी और अद्वैतवादियोंमें कोई विशेष मतभेदका कारण नहीं है; क्योंकि द्वैतवादियोंके मतमें प्रपञ्च ईश्वर-सापेक्ष है, परंतु ईश्वर प्रपञ्च-निरपेक्ष है। अवश्य ही प्रपञ्च ईश्वरकी अपेक्षा न्यून-सत्ताक है; क्योंकि प्रपञ्चका उत्पत्ति-विनाश है। उनके मतमें भी प्रथम सत्य ईश्वर, द्वितीय सत्य प्रपञ्च—ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार प्रपञ्चमें सत्यका किंचित् अवमूल्यन अवश्य हो गया है। दो नम्बरका सत्य वास्तविक सत्य नहीं होता। किंचिन्न्यूनसत्ताकत्व ही तो अनिर्वचनीयत्व है, फिर मतभेद किस बातका?

हमारा कहना यह है कि अपने-अपने स्थानपर बैठकर जिसने साध्यको जिस रूपमें देखा है और उसकी उपलब्धिके लिये अनुभवपूर्वक जिस साधनका निश्चय किया है, वह सर्वथा युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक ही है। प्राचीन कालमें भी प्रवृत्ति-विज्ञान, मनोविज्ञान, आलय-विज्ञान और ब्रह्मविज्ञान आदिकी दृष्टिसे साधन-साध्यके सम्बन्धका निर्णय होता रहा है और वह ठीक है।

अवश्य ही यन्त्र-विज्ञान, भूत-भौतिक-विज्ञान या चित्त-चैत्त-विज्ञान साधन-विज्ञान नहीं है। साधनाका एक स्वतन्त्र विज्ञान है। विज्ञानकी शाखाओंमें इसका भी समावेश होना चाहिये और शास्त्रोक्त-पद्धतिसे इसका अनुसंधान होना चाहिये।

पतझड़

पेड़ोंसे पत्ते गिरते हैं, मानवको पाठ पढ़ाते हैं।
जब जीर्ण-शीर्ण हो जाता तन, उसको मानव तब देता तज,
जैसे वृक्षोंके सब पत्ते पीले पड़कर झड़ जाते हैं।
हर नये जन्ममें मानव फिर नूतन स्वरूप धारण करता,
जैसे बहार आनेपर तरु नव पत्तोंसे लद जाते हैं।
परिवर्तित होता है केवल यह रूप बाहरी मानवका,
हर बार आत्मा बच रहती, ज्यों तरुका तन बच जाता है।
खुद वर्षा आतप सह लेते, सबको शीतल छाया देते,
मानव भी बन जायें ऐसे, यह कहकर ये गिर जाते हैं।
ऐसा लगता जैसे पतझड़ आनेपर सारे लता वृक्ष,
मानवकी गिरती हालतपर कुछ आँसू टपका जाते हैं।
आओ, हम सब मिल बैठ, आज गिरते पत्तोंसे शिक्षा लें,
जीवनमें वह करना सीखें, जो हमसे ये कह जाते हैं।

—कैलाश पंकज श्रीवास्तव, एम० ए० (पू०)

रजस्वलाधर्म और उसका वैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित तत्त्वचिन्तक स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी महाराज)

आर्यावर्तनिवासी आर्यों (हिंदुओं) तथा आर्यायण (इरान) निवासी आर्यों (पारसिकों) की दोनों शाखाओंमें रजस्वला नारीके लिये कतिपय धार्मिक नियमोंका पालन आवश्यक माना गया है। आर्यायणनिवासी आर्योंके वेद (अवेस्ता) तथा सिन्धुतटनिवासी आर्योंके वेद (ऋग्वेद) आदि ग्रन्थोंमें इन नियमोंका विधान है। इन दोनों आर्य-शाखाओंकी माताएँ आज भी रजस्वला-नियमोंका पालन करती हैं। परंतु इन नियमोंका पालन नारीमात्रके लिये आवश्यक है; क्योंकि इनका सम्बन्ध प्रकृतिके नियमोंके साथ जुड़ा हुआ है। रजस्वलाके लिये विहित नियमोंका परिपालन ऋतुमती स्त्री और उसकी संततिके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि तथा स्वास्थ्यका प्रबल एवं प्रथम कारण होता है। इन नियमोंके पालनसे मनोभिलषित, लक्षण्य, स्वस्थ, दीर्घायु, बलवान्, बुद्धिमान्, ओजस्वी, तेजस्वी एवं विनयशील—पुत्र-पुत्रियोंका प्रजनन किया जा सकता है। इस विषयमें आर्योंके आयुर्वेद, कामशास्त्र और रसायनशास्त्र आदि सभी शास्त्र सहमत हैं। तत्त्वचिन्तकोंका मत है कि क्षेत्रके संस्कार ही बीजकी सर्वविध उन्नतिके कारण होते हैं। अतः अपनी संततिकी सर्वविध रक्षा एवं उन्नतिके लिये इनका पालन नारीमात्रको करना आवश्यक है, न केवल आर्य-माताओंको ही।

रजस्वलाके नियम

रजस्वला नारीको जिन-जिन नियमोंका पालन अपनी संतति तथा अन्योंकी स्वास्थ्य-रक्षाके लिये परमावश्यक होता है, उनका परिगणन शुक्ल यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणग्रन्थ एवं कृष्ण यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखामें निम्नाङ्कित रूपमें उपलब्ध है—

(१) एकान्तवास, (२) ब्रह्मचर्य-पालन, (३) स्नानका त्याग, (४) तैलाभ्यङ्गवर्जन, (५) भूमिपर रेखा न खींचना, (६) अञ्जनका त्याग, (७) दन्तधावन-त्याग, (८) नख न कटाना, (९) वस्तुओंके छेदन-भेदनका त्याग, (१०) रस्सी न गूँथना, (११) पर्णपात्रसे जल न पीना, (१२) अन्यसे भाषण न करना, (१३) छोटे पात्रसे जल न पीना, (१४) भूमिपर शयन, (१५) पुण्यश्लोक मानवोंका स्मरण करना, (१६) अमङ्गल एवं बीभत्स पदार्थोंका चिन्तन न करना, (१७) पुण्यग्रन्थोंमें उल्लिखित दयावीर, दानवीर, क्षमावीर, धर्मवीर एवं सीता, सावित्री, अनुसूया, दमयन्ती आदि महासतियोंके चरित्रोंका स्मरण करना।

नियमोंके रहस्य

रजस्वला-अवस्थामें ऋतुमती स्त्रीके लिये विहित एकान्तवास, ब्रह्मचर्य-पालन, अञ्जन-निषेध, उसके साथ भाषण, सह-शयन, सह-आसन आदिके निषेधका रहस्य 'शतपथ ब्राह्मण' और 'तैत्तिरीयसंहिता'में बताया गया है। इन दोनों ग्रन्थोंमें दो सुन्दर आख्यानोंद्वारा उक्त रहस्योंका वर्णन हुआ है। इनमें रजस्वला स्त्रीके साथ एकासनमें बैठना, एक शय्यापर शयन और उसके स्पर्श तथा भाषण आदिके निषेधोंका रहस्य 'शतपथ ब्राह्मण'में सुस्पष्ट किया गया है—

(१) मनश्च वै वाक् चाहं भद्र उदाते। तद्धोवाच मनः। अहमेव त्वत् श्रेयोऽस्मीति होवाच। यदहमभिगच्छामि तत् त्वं वदसीति। श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकारो भवतीति।

(२) अथ होवाच वाक्। अहमेव त्वत् श्रेयसी अस्मीति होवाच। यत् त्वमभिगच्छसि, तदहं विज्ञापयामि, प्रज्ञपयामीति।

(३) तौ हासम्पादयन्तौ प्रजापतिं प्रश्नं जग्मतुः। स ह प्रजापतिर्मनस एवाध्युवाच। मन एव त्वत् श्रेय इति होवाच। श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकारोऽनुवर्त्मा भवतीति।

(४) सा ह परोक्ता वाक् विसिष्मिये। तस्या गर्भः पपात। सा होवाच प्रजापतिम्। अहव्यवाळेवाहं तुभ्यं भूयासमिति। यां मां परोवाच इति। तस्माद् यत् प्राजापत्यं क्रियते उपांशु इव एव क्रियते। अहव्यवाळ् हि तस्य वागभवत्।

(५) तदुहेदं देवा रेतः सिक्तं चर्मणि वा कुम्भ्यां वा बभ्रुः तद्ध स्म पृच्छन्ति अत्रैव ता इदिति। अत्रैवेति ततोऽत्रिः सम्बभूव।

(६) तस्मादपि स्त्रिया आत्रेय्या एनस्वीत्याहुः। एतस्या हि योषाया देवताया वाचः सम्भूतिः। (अत्रिः)—काण्व शतपथ २-४-३-२

अक्षरार्थ

(१) इस आख्यायिकामें मन और वाणीकी परस्पर 'अहं भद्रं' रूप स्पर्धाका वर्णन है। श्रुतिका कथन है कि मन और वाणी दोनों 'अहं भद्रं' (मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ) के लिये विवाद करने लगे। इनमें मन बोला कि 'हे वाक्! मैं तुमसे श्रेष्ठ हूँ; कारण कि जो मैं जानता हूँ, उसे ही तुम बोलती हो। कनिष्ठ ही श्रेष्ठका अनुगमन करता है।'

(२) इसे सुनकर वाणी बोली कि 'हे मन! मैं तुमसे श्रेयसी हूँ; क्योंकि जो तुम जानते हो, उसे मैं अपने सामर्थ्यसे प्रकट करती हूँ।' परस्परमें निर्णय न हो सकनेके कारण वे दोनों प्रजापतिके पास गये। प्रजापति बोले कि 'मन और वाणीमें मन ही श्रेष्ठ है, कारण कि वाणी मनका ही अनुगमन करती हुई उसके पीछे चलती है। कनिष्ठ ही श्रेष्ठका अनुगमन करता हुआ उसके पीछे चलता है।' प्रजापतिके इस निर्णयसे वाणीका गर्भ (वीर्य) गल गया। गतवीर्या वाणीने प्रजापतिसे कहा कि 'मैं आपके लिये हव्यका वहन नहीं करूँगी, कारण कि आपने मेरी अपेक्षा मनको श्रेष्ठ घोषित किया है।' इसीलिये जो कुछ भी कार्य यज्ञमें प्रजापतिके लिये किया जाता है, वह उपांशु (मौन) होकर किया जाता है, कारण कि वाणी प्रजापतिके लिये हव्य-वहन नहीं करती है।

उस वाणीके वीर्य (गर्भ) को देवोंने चर्ममें अथवा कुम्भीपात्रमें धारण किया। उस वाणीके वीर्यके विषयमें परस्पर देवगण पूछते थे कि 'अत्रैव तत्'—यहीं वह है? अतः 'अत्रैव तत्' इस निर्वचनसे उस वाग्देवताके वीर्य (रज) का नाम अत्रि हो गया। इस अत्रिप्राण-रूप रजके सम्बन्धसे ही रजस्वला नारीको वैदिक भाषामें 'आत्रेयी' कहा जाता है। आत्रेयीका अर्थ है कि 'जिसमें अत्रिप्राण (रज) का प्राकट्य हो गया हो।' इस आत्रेयी (रजस्वला) का स्पर्श, उसके साथ सह-आसन, सह-शयन, सह-भाषण, उसका निरीक्षण आदि कार्य निषिद्ध हैं, कारण कि इनसे वह मानव एनस्वी (मलिन) हो जाता है। अर्थात् अत्रिप्राणकी मलिनताका सम्पर्क उन पदार्थों और मानवोंमें भी संक्रान्त हो जाता है, जो आत्रेयी (रजस्वला) के सम्पर्कमें आते हैं।

इसी वाणीरूप स्त्री-देवतासे यह अत्रिप्राणरूप गर्भ (रज) उत्पन्न हुआ है, जो विश्वगत जड और चेतन सृष्टिका प्रवर्तक है। इस स्त्रीभावप्रधान प्राणरूप वाणी-देवताके प्राणीरूप सब स्त्रियाँ विवर्त (परिणाम) हैं। अतः इनमें भी उस वाणीके गर्भ अत्रिप्राण (रज) का प्राकट्य होता रहता है; क्योंकि कारणके गुणोंका कार्यमें अनुवर्तन प्रकृतिसिद्ध है।

आख्यानका तात्पर्य

इस आख्यानका सम्बन्ध अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत तीनोंसे है। अध्यात्म पक्षमें मन और वाणीके स्वाभाविक स्वरूपोंका विश्लेषण हुआ है। मन और वाक् इन दोनोंमें मानस-ज्ञान ही वर्णवाक् (क. च. ट. त. प.) का आधार बनता है। अर्थात् मनको अवलम्बन बनाये बिना वाणीका व्यापार (वर्णोच्चारण) असम्भव है। इसलिये वागिन्द्रियसे मन-इन्द्रिय श्रेष्ठ माना गया है। बहिर्मुख स्थूल वाणी अनिरुक्त प्रजापतिके विषयमें संचार अशक्य है। यही वाणीका प्रजापतिके लिये हव्यका वहन करना है।

अधिदैवत पक्षमें चन्द्र-रूप प्रजापतिके सम्पर्कसे वाक्रूप (स्त्री-रूप) अग्निका वीर्य स्खलित हो जाता है। यही रजः है, जिसको वैदिक परिभाषामें 'अत्रि' कहा जाता है। यह अत्रिरूप रज चेतन और जड दोनों सृष्टियोंका कारण है। इसका अभिनय ही 'तदुहेदं रेतः सिक्तं चर्मणि कुम्भ्यां वा बभ्रुः' इसमें किया गया है। इसमें 'चर्मन्' सब चेतन-भूत सृष्टि एवं 'कुम्भ्यां' सब जडभूत सृष्टिका परिचायक है।

अत्रितत्त्वका विवेचन

जिस अत्रितत्त्वके प्राकट्यसे स्त्री आत्रेयी हो जाती है, उसके स्वरूपका वर्णन वेदमें इस प्रकार है—'धामच्छद' वाक्तत्त्वको 'अत्रि' कहा जाता है। 'धाम' शब्द स्थल और प्रकाश दोनोंका बोधक है। अतः धामच्छदके अर्थ प्रकाशका प्रतिबन्धक और स्थलका आवरणकर्ता—ये दो होते हैं। यह प्राण पारदर्शकताका प्रतिबन्धक है। दर्पण, अभ्रक आदि पदार्थोंमें अत्रिप्राणके न रहनेसे उनमें पारदर्शकताकी प्रति-बन्धकता नहीं रहती।

'अत्रि'का निर्वचन

प्रजापतिमें भृगु और अङ्गिरा—ये दो तत्त्व हैं। एक तीसरा भी प्राण है, जो 'अत्रि' कहलाता है। इनमें भृगु अङ्गिराके ३-३ विवर्त्त होते हैं। भृगु और अङ्गिराकी तरह 'अत्रि'के ३ विवर्त नहीं होते, अतः वह 'न त्रिः, इति अत्रिः'

इस निर्वचनसे 'अत्रि' है। 'शतपथ' में प्रदर्शित 'अत्रैव तत् इति अत्रिः' निर्वचन प्रथम आ चुका है।

रजस्वला और अत्रिप्राण

अत्रिप्राणके प्राकट्य होनेसे नारीको रजस्वलात्वकी प्राप्ति होती है। रजस्वला स्त्रीमें सौर प्राणविरोधी अत्रिप्राणकी प्रबलता रहती है। अतः 'शतपथ' आदि विज्ञान-ग्रन्थोंमें रजस्वला स्त्रीको 'आत्रेयी' कहा जाता है। यह अत्रिप्राण ब्रह्म, क्षत्र और विट्—इन तीनों वीर्यों (प्रकाशों) का विरोधी है। अतः आत्रेयी (रजस्वला) अस्पृश्या, असम्भाष्या और अनधिगम्या है। परस्परमें मूर्छित अग्नि और मूर्छित (मृत) सोम अत्रिप्राणका स्वरूप है। यह शारीरिक अनेक दोषोंका वहन करता है। अतः 'मलीमस' है। इस मलीमस प्राणके सम्बन्धसे रजस्वलाको तैत्तिरीय शाखामें 'मलवद् वासा' कहा गया है। इसमें मालिन्य ३ दिनतक रहता है। यही विशुद्ध अत्रिप्राण प्रजोत्पत्तिका भी कारण है। अतः रजस्वला भावके अनन्तर स्त्री-समागमको वैध माना गया है।

अत्रि-प्राणका तात्त्विक विवेचन

'शतपथ'में उपलब्ध 'प्राणा वाव ऋषयः' इस विज्ञानके आधारसे प्राणतत्त्व ऋषिशब्दसे अभिहित है। प्रजापतिमें उष्ण, शीत और अनुष्णशीत भेदसे त्रिविध ऋषि (प्राण) है। इनमें उष्णप्राण अंगिरा है, शीतप्राण भृगु है, अनुष्णशीतप्राण अत्रि है। उष्ण अङ्गिराप्राण देवसृष्टि, शीत भृगुप्राण पितृ-सृष्टि एवं अनुष्णशीत अत्रिप्राण भूतसृष्टिका प्रवर्तक है। भूतसृष्टि धामच्छद है, अर्थात् स्थानका आवरण करती है। जिस योषा (स्त्री) के रजमें इस वाणीके गर्भरूप अत्रिप्राणका विकास नहीं होता, वह स्त्री प्रजनन-कर्ममें असमर्थ होनेसे 'वन्ध्या' कही जाती है।

स्नानादि-परित्यागका रहस्य

तैत्तिरीय शाखामें रजस्वला स्त्रीके लिये निषिद्ध स्नान, दन्तधावन, नख-निकृन्तन आदिके रहस्योंका निर्देश ऋषिने छोटे-छोटे वाक्योंमें सरल रीतिसे इस रूपमें किया है—

(१) तृतीयं ब्रह्महत्यायै प्रत्यगृह्णन्। सा मलवद्-वासा अभवत्। तस्मात् मलवद्-वाससा न संवदेत। न सहासीत। नास्या अन्नमद्यात्। अथो खल्वाहरभ्य-ञ्जनमेव वाव स्त्रिया अन्नम् अभ्यञ्जनमेव न प्रतिगृह्यम्। काममन्यदिति।

(२) यां मलवद्-वाससं सम्भवन्ति, यस्ततो जायते सोऽभिशस्तः। यामरण्ये तस्यै स्तेनः। यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुखी। अप्रगल्भो वा। या स्नाति तस्या अप्सु मारुकः या अभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा। या प्रलिखति तस्यै खलतिः, अपमारी वा। या अङ्क्ते तस्यै काणः। या दन्तो धावते तस्यै श्यावदन्। या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी। या कृणत्ति तस्यै क्लीवः। या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धकः। या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुकः। या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः। तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्। अञ्जलिना वा पिबेत्। अखर्वेण वा पात्रेण। प्रजायै गोपीथाय।

—तै० का० २ प्र० पू० अ० ३

अक्षरार्थ और रहस्य

श्रुतिके अक्षरार्थोंमें ही नियमों तथा उनके रहस्योंका वर्णन है। ऋषि तित्तिरिने अपने आदेशोंमें आत्रेयी स्त्रीके मन, बुद्धि और स्वभावका रम्यतर वर्णन किया है। उनपर रजस्वला अवस्थामें वासनाओं (शारीरिक क्रियाओं) के परिणामोंका उल्लेख भी किया है। अन्तमें संतति-रक्षाके हेतु तीन रात्रियों तक व्रतोंका पालन आवश्यक माना है—'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत् प्रजायै गोपीथाय'।

वृत्रासुरके वधसे उत्पन्न ब्रह्महत्याके तृतीय अंशको स्त्रियोंने ग्रहण किया। इससे स्त्रियाँ 'मलवद्-वासा' हो गयीं। अर्थात् रजस्वला हो गयीं। दोषवान् रजके कारण स्त्रीको मलवत्-शरीरा कहा गया है। मलवद्-वासा (रजस्वला) में विद्यमान दोषोंका संक्रमण उसके साथ व्यवहार करनेवालोंमें भी हो जाता है। अतः उसके साथ सम्भाषण, सहवास आदि सब व्यवहार निषिद्ध हैं। रजस्वला अवस्थामें तैल-मर्दन आदि क्रियाओंका अनिष्ट परिणाम संततिपर होता है। अतः ये क्रियाएँ भी त्याज्य हैं।

जिस रजस्वलासे सहवास किया जाता है, उससे उत्पन्न संतान पापात्मा होती है। जो रजस्वला स्नान करती है, उसकी संतति जलमग्न होकर मर जाती है। जो रजस्वला तैल-मर्दन करता है, उसकी संतति दुश्चर्मा होता है। जो रजस्वला भूमिपर लेखन करती है, उसकी संतति खल्वाट (गंजी) होती है, अथवा अपस्मार रोगसे युक्त हो जाती है। जो रजस्वला नेत्रोंमें अञ्जन लगाती है, उसका पुत्र अथवा पुत्री काना या कानी होती है। जो रजस्वला दन्तधावन करती है, उसकी संतति काले दाँतोंवाली होती है।

जो रजस्वला जीवहिंसा करती है, उसका पुत्र नपुंसक होता है। जो रजस्वला रस्सी बटती है, उसका पुत्र दूसरोंको फँसानेवाला होता है अथवा स्वयं फाँस डालकर मर जाता है। जो रजस्वला पर्णमय पात्रसे जल पीती है, उसका पुत्र उन्मत्त (पागल) होता है। जो रजस्वला छोटे पात्रसे जल पीती है, उसकी संतति छोटे कदकी होती है। अतः तीन रात्रियोंतक उक्त व्रतोंका पालन सुप्रजा उत्पन्न करने और उसकी रक्षा तथा सुसंस्कारोंके लिये आवश्यक है।

भारतीय आर्योंका परीक्षण

भारतीय आर्योंद्वारा आर्तवका परीक्षण करके उसके विषयमें आयुर्वेद और धर्मशास्त्र आदि शास्त्रोंमें इन परिणामोंका उल्लेख किया गया है; इनमें आयुर्वेदका यह निर्णय है—

रसादेव स्त्रिया रक्तं रजस्संज्ञं प्रवर्तते।

× × ×

आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयं अग्निषोमीयत्वाद् गर्भस्य।

अर्थात् सात धातुओंमें परिगणित रक्तकी अपेक्षा आर्तव रक्त विभिन्न है; कारण कि सामान्य रक्त 'सौम्य' है, आर्तव रक्त 'आग्नेय' है; इसलिये यह आठवाँ धातु है। गर्भके 'अग्निषोमीय' होनेसे भी आर्तवको आग्नेय मानना आवश्यक है। कारण कि गर्भ सदा ही अग्नि और सोमका ही समुदाय होता है। सुश्रुतके १४वें अध्यायमें रजस्वलाके लिये आदेश दिये गये हैं—

चतुर्थेऽह्नि ततः स्नात्वा शुक्लमाल्याम्बरा शुचिः।
इच्छन्ती भर्तृसदृशं पुत्रं पश्येत् पुरः पतिम्॥
ततः पुष्पेक्षणादेव कल्याणध्यायिनी त्र्यहम्।
मृजालंकाररहिता दर्भसंस्तरशायिनी॥
सन्तोऽप्याहुरपत्यार्थं दम्पत्योः संगतं रहः।
दुरपत्यं कुलाङ्गारो गोत्रे जातं महत्यपि॥
इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितौ च तौ।
चिन्तयेतां जनयतुः तदाचारपरिच्छदौ॥

अर्थात् आर्तव-दर्शनके बाद ही मङ्गलमय विचारोंका चिन्तन करती हुई तीन दिनतक स्नान, अलंकार आदिसे रहित होकर दर्भके विस्तरपर शयन करे। महापुरुषोंने उत्तम संतानकी प्राप्तिके लिये स्त्री-पुरुषोंके समागमको वैध माना है। महान् कुलमें भी उत्पन्न दुरपत्य कुलाङ्गार होता है। इसलिये जैसा पुत्र चाहे वैसा वेष और चरित्र धारण करे और सत्पुरुषोंका चिन्तन करे तो अवश्यमेव उत्तम पुत्र उत्पन्न हो सकता है। रजस्वला चौथे दिन स्नान करके शुक्ल वस्त्र और माला आदिसे विभूषित पति-जैसा पुत्र चाहती हुई सर्वप्रथम पतिका ही दर्शन करे।

धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे

धर्मशास्त्रमें भगवान् व्यासका ऋतुमती स्त्रीके विषयमें आदेश है कि—

स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित्।
मासि मासि रजस्तासां दुष्कृतान्यपकर्षति॥

अर्थात् स्त्रियाँ पवित्रतामें अनुपम हैं; कारण कि इनके शरीर, मन और बुद्धिमें स्थित विष आदि दोषोंको हर महीने रज (अत्रिप्राण) शरीरसे पृथक् करता रहता है। स्त्रियोंका भी यह कर्तव्य है कि इन दोषोंका संक्रमण अन्य वस्तुओंमें न हो, इसलिये उन्हें उन नियमोंसे बद्ध रहना चाहिये।

रजोदर्शनतो दोषात् सर्वमेव परित्यजेत्।
सर्वैरलक्षिता शीघ्रं लज्जितान्तर्गृहे वसेत्॥
स्त्रीधर्मिणी त्रिरात्रं तु स्वमुखं नैव दर्शयेत्।
स्ववाक्यं श्रावयेन्नापि यावत् स्नानान्न शुध्यति॥

अर्थात् ऋतुमती स्त्री दूसरे पदार्थोंमें रजोदोषोंके संक्रमणके भयसे पाक आदि सब कार्योंसे निवृत्त हो जाय, किसीके दृष्टिपथमें न आये। चौथे दिन स्नानसे पवित्र होनेतक अपना मुख किसीको न दिखाये। किसीको अपना शब्द भी न सुनाये। घरके अंदर ही रहे; कारण कि इन क्रियाओंके द्वारा रजोगत दोषोंका संक्रमण अन्यत्र हो जाता है।

मनुका आदेश है—

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह॥
रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते॥

अर्थात् रजोदर्शन होनेपर कामसे उन्मत्त भी मानव स्त्री-सम्पर्क न करे। उसके साथ एक शय्यापर भी न सोये; कारण कि रजस्वलाके साथ सम्पर्क करनेसे मानवकी प्रज्ञा, तेज, बल, आयु—ये सब क्षीण हो जाते हैं। जो मानव

रजस्वलाके साथ सम्पर्क नहीं करता, उसके प्रज्ञा, तेज, बल, आयु—ये चारों वृद्धिंगत होते हैं।

इसका रहस्य यह है कि आर्तवमें विशेष प्रकारका विष रहता है। आयु अमृत है। विष अमृतका नाशक है। अतः विषसे आयुका क्षय हो जाना स्वाभाविक है। चक्षु सूर्यकी शक्ति होनेसे प्रकाशरूप है। अग्निप्राण (रज) सौर-प्रकाश-विरोधी है, अतः वह चक्षुओंका नाशक है। प्रज्ञा तेजोरूपा है, अग्निप्राण (रज) तेजका भी विरोधी है। अतः वह इसका भी नाश करता है। बल सौम्य है, आर्तव आग्नेय है। अतः वह बलको भी क्षीण करता है।

'विष्णुधर्मोत्तर' में रजस्वलाके लिये निम्नलिखित नियमोंका प्रतिपादन है—

आहारं गोरसानां च पुष्पालंकारधारणम्।
अग्निसंस्पर्शनं चैव वर्जयेच्च दिनत्रयम्॥
अश्नीयात् केवलं भक्तं नक्तं मृण्मयभाजने।
स्वपेद् भूमावप्रमत्ता क्षपेदेवमहस्त्रयम्॥
स्नायीत च त्रिरात्रान्ते सचैलमुदिते रवौ।
क्षामालंकृतमाप्नोति पुत्रं पूजितलक्षणम्॥

याज्ञवल्क्यका भी यह आदेश है कि—

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघामूलं च वर्जयेत्।
सुस्थ इन्दौ सकृत् पुत्रं लक्षण्यं जनयेत् पुमान्॥

पुत्र-प्रजनन—

अर्थात् रजस्वलाके लिये विहित नियमोंके पालनसे लक्षण्य पुत्रकी प्राप्ति हो सकती है। उसकी प्राप्तिके लिये भगवान् व्यास और याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंके मतसे रजस्वलाके नियमोंपर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। कारण कि इन दिनोंमें जितना संयम, लघु आहार तथा विलासिताका त्याग रहेगा, उतना ही रस-संचार कम होगा। इसलिये ऋतुमती स्त्रीका कर्तव्य है कि तीन दिनतक केवल एक बार भोजन करे, भूमिशय्यापर सोये, संयमसे रहे, घृत, दुग्ध, दही आदि गो-रसोंका सेवन न करे। पुष्पमाला, सुवर्ण, रत्न आदिके आभूषणोंको धारण न करे; कारण कि ये सब पदार्थ रजःशक्तिके उद्दीपक और विशेष रक्त-संचारके कारण हैं। ऐसा करनेसे स्त्री-शोणितकी शक्ति निर्बल रहेगी, जो पुत्र-प्रजननके लिये आवश्यक है।

चतुर्थ दिवसमें सूर्योदयके अनन्तर सचैल स्नान करके प्रथम पतिको ही अवलोकन करे। इससे पति-सदृश संततिकी प्राप्ति होती है, मघा और मूल नक्षत्रको छोड़कर तिथि-विचारसे युग्म तिथियोंमें नियमानुसार संयत स्त्रीमें गर्भाधान होनेपर शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न पुत्र ही उत्पन्न होता है। इन नियमोंको न पालनेसे कदपत्य, उच्छृङ्खल लड़के अथवा अधिक कन्याएँ उत्पन्न होती हैं। आजकल अधिक कन्याओंकी उत्पत्ति एवं उच्छृङ्खल पुत्रोंके उत्पन्न होनेमें रजस्वलाका नियमोंका पालन न करना प्रधान कारण है।

जर्मानिक आर्योंका परीक्षण

आर्तवके विषयमें भारतीय आर्योंके अभिमतोंका उल्लेख रहस्योंके साथ ऊपर किया जा चुका है। अब इस विषयमें केतुमाल (यूरोप) के अन्तर्गत शार्मण्य (जर्मनी) देश-निवासी आर्योंके अभिमतोंका भी उल्लेख किया जाता है। उन्होंने भी ऋतुमती स्त्रीके आर्तवका परीक्षण करके निम्नलिखित तथ्य प्रकट किये हैं। इनमें विद्वान् हेवलक इलीसका मत है कि—

Prof. Havelock Ellies

"There is nature's compulsion involved in the sexual instinct and this is shown by the insistence of the sexual craving and is confirmed by the researches of biologists, who have traced the germ of this instinct to the unicellulur protoplasm."

प्रकृतिकी प्रेरणासे ही उपस्थेन्द्रियमें प्रेरणा होती है एवं स्त्री-पुरुषोंमें परस्पर संसर्गकी इच्छा होती है। जीव-तत्त्वविद् पण्डितोंने अन्वेषण करके पता लगाया है कि उत्पत्तिके आदिकारणमें ही इस प्रवृत्तिका बीज विद्यमान है।

पुरुषोंमें सात धातुएँ हैं, किंतु स्त्री-जातिमें आठ धातुएँ हैं। आठवाँ धातु रज है। आर्तव-रक्तको सप्त धातुओंके अन्तर्गत केवल रक्त मानना भ्रम है। इस प्रकार एक धातुके अधिक होनेके कारण और इसके साथ गर्भ-धारणका प्राकृतिक सम्बन्ध होनेके कारण ऋतुकालमें स्त्रियोंके भीतर कामवेगका अधिक होना स्वाभाविक है।

विद्वान् हेवलक इलीसके अनुसंधानका 'शाक्तानन्द-तरङ्गिणी' के मतके साथ आश्चर्यजनक साम्य है।

'शाक्तानन्द-तरङ्गिणी' के अनुसंधानकी भी यही ध्वनि है कि—

रजस्वला च या नारी विशुद्धा पञ्चमे दिने।
पीडिता कामवेगेन ततः पुरुषमीहते ॥

प्रोफेसर शीक महोदयका भी आर्तवके विषयमें यह अनुसंधान है कि—

Prof. Schieck

"The author after an extensive research was able to show that the injurious substance menotoxin circulates in the blood but not in the serum; in all probability it is the blood corpuscles or adherents to them. It must be volatile and must escape from the skin or lungs. Schieck thinks that we are on the threshhold of a great discovery. This potent volatile poison being a menace not only to preservation of certain organic substances but even to growing flowers, it also seems toxic to insects. In regard to unicellular organisms it can both inhibit and accelerate the prolification of yeast. The menotoxim is regarded by Schieck as something which the female organism must get rid of and this supports the prevalent view that menstruation is a depurative phenomenon."

प्रोफेसर शीकके अनुसंधानसे यह प्रमाणित हुआ है कि ऋतुमती स्त्रीके रक्तमें ऐसा प्रबल रजोविष होता है, जिससे उस स्त्रीके उद्यान (बाग) में घुसनेपर उद्यानके पुष्प, पत्र आदि सब सूख जाते हैं। पुष्पोंके वृक्ष मर जाते हैं, फल सड़ जाते हैं। इतना तक कि वृक्षके कीट आदि भी गिर पड़ते हैं या भाग जाते हैं। कभी-कभी मर भी जाते हैं। शीकके मतानुसार रजोविष ऐसी वस्तु है, जिसे शरीरसे बाहर निकल ही जाना चाहिये। इससे यह लोकधारणा भी पुष्ट होती है कि रजःस्राव एक शोधक प्रक्रिया है।

इस विषकी प्रबलता प्रथम दिन प्रारम्भ होकर द्वितीय दिन बहुत ही बढ़ जाती है, तृतीय दिन घट जाती है, चतुर्थ दिन कुछ भी नहीं रहती। अतः इस विषयमें दोनों देशोंके विद्वानोंका अनुसंधानजन्य सिद्धान्त प्रायः अभिन्न ही है।

ऋतुमतीके चित्तका स्वरूप

आर्यशास्त्रोंमें लिखा है और वह वैज्ञानिक रीतिसे प्रमाणित भी हो चुका है कि ऋतु-स्नानके अनन्तर स्त्री प्रथम जिसे देखती है, उसीका संस्कार उसके चित्तपर पड़ जाता है। उस संस्कारको वह अपने चित्तपर धारण किये रहती है। कारण कि ऋतुमतीका चित्त उन दिनोंमें ठीक फोटो लेनेवाले 'कैमेरा' के सदृश हो जाता है। यही कारण है कि स्नानके अनन्तर सर्वप्रथम ऋतु-स्नाता स्त्रीके लिये पतिदर्शन ही आवश्यक है।

इस विषयमें प्रोफेसर एलीमर गेट्सका मत है कि—

Prof. Elimer Gates—

"The Phycho-physiology shows that thoughts and feelings influence the complete physical body and can be demonstrated to characterize appropriately all the secretions and the excretion of the entire system."

चित्तका प्रभाव शरीर, मन और बुद्धिपर कैसा पड़ता है, इसके विषयमें भी प्रोफेसर गेट्सका यह ज्ञापन है कि "मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञानके द्वारा प्रमाणित किया गया है कि चिन्तन-शक्ति और भावनाका इतना पूर्ण प्रभाव स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरपर पड़ता है कि उनके अन्तर्गत कोई भी वस्तु इनके परिणामसे बच नहीं सकती। स्थूल शरीरके अन्तर्गत रक्त, मांस, मज्जा और वीर्य आदि कोई भी वस्तु उस प्रभावसे अछूती नहीं रह सकती।" प्रकृतिके इस विज्ञान और चित्तके प्रभावको लक्ष्यमें रखकर ही ऋतुमतीके लिये यह आदेश महाभारतमें दिया गया है कि—

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।
स्त्रियो रजस्वलाः श्रुत्वा पुत्रान् सूयुरनुत्तमान् ॥

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

१–भगवान्में सबसे अधिक प्रिय एवं आवश्यक बुद्धि हो जाय और प्राण उनके लिये छटपटाने लगें—बस, यही भजन है।

२–जगत्के जितने भी सुख हैं, सब दुःखमूल हैं; अतएव उनसे कभी नित्य सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

३–स्मृति आवश्यकता एवं प्रियतासे होती है। भगवान्की निरन्तर स्मृति तभी रहेगी, जब भगवान् हमारे लिये अनिवार्य आवश्यकताकी वस्तु हो जायँगे और उनमें परम प्रियतम बुद्धि हो जायगी।

४–जगत्की किसी स्थितिके परिवर्तनसे या प्राप्तिसे सुख हो जायगा—यह सर्वथा भ्रम है। इस भ्रमसे जब भी हम मुक्ति पा जायँगे, तभी सुखी हो जायँगे।

५–तीन चीजें साधकको नियमितरूपसे करनी चाहिये—भजन, स्वाध्याय एवं सत्सङ्ग। भजनमें भगवान्के नामका जप और भगवान्का स्मरण मुख्य है।

६–आलस्य, परचर्चा, प्रमाद (न करनेयोग्य काम करना और करनेयोग्य न करना) ये तीन तमोगुणके मुख्य रूप हैं। जिनके जिम्मे कोई काम नहीं रहता, उनमें ये तीनों चीजें पनपनेका बड़ा भय रहता है। अतएव सदा शुभ कार्योंमें संलग्न रहना चाहिये।

७–परनिन्दा, परचर्चाको काल समझे और उनसे सदा भय खाता रहे।

८–जो साधक हैं, उसे उपदेशक बननेकी आवश्यकता नहीं है। साधनामें उपदेशकका पेशा बड़ा निन्दनीय समझा गया है। इसमें पहला प्रमाद तो यह होता है कि उपदेशक अपनेको दूसरोंसे अच्छा समझता है, जो साधनाके सर्वथा विपरीत है।

९–जीवनमें जो शुभ आया है, वह वाणीद्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता और जो जीवनमें आया नहीं, उसे वाणीद्वारा कहनेसे क्या लाभ? इससे उपदेशक बनना हेय समझा गया है। जो भगवान्की इच्छासे, जो उनकी प्रेरणासे उपदेश करते हैं, उनकी बात सर्वथा भिन्न है।

१०–व्यर्थ न सुने, न बोले। दो चीजोंसे अधिक प्रमाद होता है—कहनेसे एवं सुननेसे अर्थात् वाणी एवं श्रवणेन्द्रियसे। इसीसे संतोंने इन दो इन्द्रियोंपर बराबर सावधानी बरतनेका आदेश दिया है। श्रीगोस्वामीजीने अपना निश्चय बताया है—

स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं॥

सुननेमें तो कुछ पराधीनता है, न चाहनेपर भी यदि कोई कुछ कहने लग जाय तो कितना ही सावधान रहिये, कुछ शब्द कानमें चले ही जायँगे। पर वाणीका संयम तो पूर्णरूपसे अपने अधीन है। हम न चाहें तो कोई एक शब्द भी हमसे उच्चारण नहीं करवा सकता। अतएव वाणीपर पूर्ण संयम रखते हुए उसे भगवान्के नाम-जप एवं भगवत्सम्बन्धी बातोंके कहनेमें लगाना चाहिये। कानोंसे सुननेमें भी यथासम्भव सावधानी बरतनी चाहिये।

११–जीभ बहुत प्रमाद करती है। जीभका संयम रक्खें और कानोंको बंद रक्खें, किसीको सलाह देनेकी वृत्तिका शमन करें। इससे जीभके संयममें सहायता प्राप्त होती है तथा परचर्चा, परनिन्दा, जगच्चर्चा, पापकी बात सुने ही नहीं।

१२–समाचारपत्र चलते ही हैं—जगच्चर्चा-परचर्चासे। उनके द्वारा जगच्चर्चा एवं परचर्चा ही मनमें प्रवेश करती है। अतएव साधनाकी दृष्टिसे—आत्मकल्याणकी दृष्टिसे साधकको चाहिये कि जहाँतक हो सके, समाचारपत्रोंसे बचता रहे।

१३–संयममें भगवान्की सहायता सदा रहती है। आरम्भमें कुछ भय आते हैं, पर भगवान्की कृपाका बल साथ अनुभव करते हुए दृढ़ रहा जाय तो कुछ ही समयमें संयम बड़ा ही सुगम हो जाता है।

१४– भय क्या है? भगवान्पर अविश्वास ही भयके रूपमें अभिव्यक्त होता है।

१५–परचर्चा और परनिन्दामें रस आना पतनकी स्थिति है। परचर्चा और परनिन्दा बुरी लगनी चाहिये। दूसरेके दोष सुनने और चिन्तन करनेको न मिलें, यह सौभाग्यका चिह्न है।

१६–विषयासक्त पुरुषद्वारा सम्मान प्राप्त होना दुर्भाग्य है। विषयासक्त पुरुषद्वारा सम्मान प्राप्त न होना, यह

सौभाग्य है । कारण, विषयासक्त पुरुष विषयोंसे सम्पन्न व्यक्तिका ही सम्मान करता है, ऐसे जीवनका ही उसके मनमें महत्त्व है । साधनामय जीवनके प्रति तो उसके मनमें हेयबुद्धि या उपेक्षा-बुद्धि रहती है ।

१७—भगवान् ही मानव-जीवनके परम लक्ष्य हैं, भगवान् ही एकमात्र हमारी सम्पत्ति हैं,-भगवान् ही जीवन हैं—यह निश्चय करके भगवत्सम्बन्धी विषयोंमें इन्द्रियोंको सतत लगाये रक्खे ।

१८—भगवान्की स्मृतिमय जीवन ही जीवन है ।

१९—निकम्मा व्यक्ति दो काम करता है—आलस्यमें पड़ा रहता है, या न करनेयोग्य कार्य करता है अर्थात् प्रमादमें लिप्त रहता है । अतएव अपनेको सदा शुभ कार्योंमें लगाये रक्खे । शुभ कार्य हैं—प्रभुसेवाकी बुद्धिसे कर्माचरण, स्वाध्याय, सत्सङ्ग, सेवा और सतत नामस्मरण ।

२०—भगवान्में अनन्य-बुद्धि होनी चाहिये, नहीं तो कम-से-कम मुख्य-बुद्धि तो होनी ही चाहिये । जगत्के लिये भगवान्का त्याग न हो, भगवान्के लिये जगत्का त्याग भले हो जाय—जिसका ऐसा निश्चय है, वह जगत्के किसी भी मूल्यपर भगवान्को नहीं भूलेगा । वह जगत्की किसी भी वस्तुको पानेके लिये भगवान्की विस्मृति नहीं करना चाहेगा ।

२१—भगवांन्के प्रति हमारी मुख्यबुद्धि हो जाय, इसके लिये दो साधन हैं—हम नित्य सत्सङ्ग करें तथा बिना इच्छाके भी भगवान्का स्मरण-भजन करें । जो सङ्ग हमारे जीवनमें भगवान्की आवश्यकता उत्पन्न कर दे, वही वास्तविक सत्सङ्ग है ।

२२—जिस वस्तुमें हमारा आन्तरिक अनुराग होता है, उसे हम छोड़ना नहीं चाहते; उसकी विस्मृतिमें स्वाभाविक दुःख होता है—यह नियम है । हमारी चाह भगवान्के लिये है या नहीं, इसका पता इससे लगता है कि भगवान्की विस्मृति होनेपर हमें दुःख होता है कि नहीं ।

२३—भगवान्की मधुर लीला-कथाओंका जितना ही श्रवण, अध्ययन, मनन एवं चिन्तन हो, उतना ही सौभाग्य है । यह लीलारस इतना मधुर है कि इसका जितना ही सेवन किया जाय, उतना ही इसका माधुर्यास्वादन बढ़ता है और उतनी ही इसके सेवनकी इच्छा बढ़ती है । भोग-लालसा इस रसको कम करती है । पर यदि निरन्तर भगवत्कथाका सेवन होता रहे तो भोग-लालसा बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती है ।

२४—जब मनुष्यके अंदर एक भाव, एक लक्ष्यके प्रति दृढ़ निष्ठा हो जाती है; तब वह उसकी धुनमें सबकी उपेक्षा करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है । इसी प्रकार जिसका मन भगवान्की ओर एकाग्र हो गया, वह सब विघ्न-बाधाओंको चीरता हुआ श्रीनन्दनन्दनकी खोजमें मस्त हुआ आगे बढ़ता चला जाता है ।

२५—भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छामें आन्तरिक अभिरुचि होनी चाहिये, उसमें किसी सांसारिक इच्छाकी छाया भी नहीं रहनी चाहिये । जहाँ भक्तकी विशुद्ध इच्छा होती है—उसमें सांसारिकताकी गन्ध भी नहीं रहती—वहाँ भक्तकी इच्छा भगवान्की इच्छा हो जाती है और भगवान् प्रकट हो जाते हैं ।

२६—मनमें बुरे संस्कार बने हुए हैं, वे नष्ट नहीं होते, इसका कारण है, इन चोरोंको भय नहीं हुआ है कि हम पकड़े जायँगे—नष्ट कर दिये जायँगे । अपितु इनको पुष्ट करनेकी हमारी चेष्टा हो रही है—चाहे वह ज्ञात हो, चाहे अज्ञात । चोरोंको यह पता लग जाय कि पुलिस हमें पकड़नेके लिये आ रही है तो वे क्या रुक पाते हैं ? वे जिस किसी स्थितिमें होते हैं, भाग खड़े होते हैं । यही दशा कुसंस्कारोंकी है । मनमें भगवद्भाव लानेकी लालसा उत्पन्न होते ही काम-क्रोधादि कुसंस्कार—कुविचार भागने लग जायँगे ।

२७—सच्ची प्रीति दो जगह नहीं रहती । वह जब रहेगी तब एकके लिये रहेगी । जहाँ दोके लिये प्रीति है, वहाँ उसका सच्चा रूप नहीं होता । भगवान्के प्रति प्रीति होनेपर भोग-प्रपञ्चरूप जगत्से प्रीति अवश्य-अवश्य हट जायगी ।

२८—कष्ट शरीरमें होता है और दुःख मनमें । किसी घटना या परिस्थिति विशेषसे शरीरको कष्ट हो सकता है, पर दुःख नहीं । दुःख तभी होगा जब उसके प्रति प्रतिकूल भावना होगी । बीमारीको भी जो तप मान लेते हैं, उन्हें शारीरिक पीड़ा होते हुए भी दुःख नहीं होता ।

२९—जो साधना सहज और सुखमय होती है, वही वास्तविक साधना है । सुखमय इस अर्थमें नहीं कि उसमें

इन्द्रिय-भोगसुख होता है, अथवा कठिनाइयाँ नहीं होतीं; कठिनाइयाँ होती हैं किंतु उनके प्रति मनमें प्रतिकूल भावना नहीं रहती।

३०—अन्धकार सूर्यके आनेकी सूचनामात्रसे काँप उठता है कि अब मेरा विनाश निश्चित है। इसी प्रकार भगवान्‌के नाम-स्मरणमात्रसे पाप काँप जाता है कि अब मेरी कुशल नहीं।

३१—भजनमें रुचि न हो, तबतक उसे दवाके रूपमें किया जाय। जबतक पापरूपी ज्वर रहता है, तबतक भगवत्स्मृतिरूपी भोजनके प्रति रुचि नहीं रहती। भजनरूपी दवासे जैसे-जैसे पापरूपी ज्वरका शमन होगा, वैसे-वैसे भगवत्स्मृति होने लगेगी और वह परम मधुर है ही।

३२—जगत्‌की सभी बातोंमें 'अति' वर्जित है, पर भजनमें यह बात नहीं। यह जितना हो उतना ही थोड़ा है।

३३—हमारे चित्तकी वृत्ति निरन्तर भगवान्‌की ओर बढ़ती रहे—क्षणभर भी वह दूसरी ओर न जाय, न कभी रुके, यह करना है; फिर यह चाहे जिस साधनसे हो।

३४—चित्तकी वृत्तियोंको संसारकी ओर लगाये रखनेका अर्थ है—उन्हें दुःखोंके समुद्रमें डुबाये रखना। अतएव सुख चाहनेवालेको अपनी चित्तवृत्तिको संसारकी ओरसे हटाना ही पड़ेगा।

३५—प्रीतिपूर्वक भजन कैसा होता है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। केवल इतना कहा जा सकता है कि उसमें अनन्त रस आता है और वह कभी छूटता नहीं। अन्य जितने भी भजन हैं, वे सब उसमें विलीन हो जाते हैं। कारण, अन्यकी वहाँ कल्पना ही नहीं रहती; केवल बच रहते हैं—'प्रेमास्पद'।

३६—दास्य आदि रतियोंके पूर्व शान्तरतिकी आवश्यकता है। जबतक अपनी चिन्ता, अपने सुखकी चिन्ता है, तबतक मालिक आदिकी चिन्ता, उनके सुखकी चिन्ता कैसे होगी?

३७—अपने दौरात्म्यसे भयभीत नहीं होना चाहिये। वास्तवमें हमारा दौरात्म्य तो भगवान्‌की कृपाको प्राप्त करनेकी योग्यता है। जिसका जितना अधिक दौरात्म्य, वह उतना ही भगवत्कृपाको अधिक प्राप्त करेगा। बस, अपने दौरात्म्यकी ओर दृष्टि न डालकर भगवान्‌की कृपाकी ओर देखना चाहिये।

३८—शास्त्रोंमें संत-असंतका बड़ा विवेचन है। पर मोटेरूपमें संत-असंतके भेदको यों समझ लें—संत वह है, जो भगवान्‌में बसता है, जिसके हृदयमें भगवान् बसते हैं। असंत वह है, जो भोगोंमें बसता है और जिसके हृदयमें भोग बसते हैं। इस कसौटीपर हम अपनेको परखते रहें।

३९—भगवान्‌का नाम, संत, श्रीगङ्गाजी—ये ऐसे हैं, जिनमें भावकी भी आवश्यकता नहीं है। इनके सम्पर्कमें आनेपर ही पाप कट जाते हैं और मनुष्य सफलकाम हो जाता है।

४०—संत—वास्तविक संत मिले हैं, तो निश्चित समझना चाहिये कि लाभ हो चुका है, वह सामने नहीं आया है।

४१—संत गलियों-बाजारोंमें विज्ञापन नहीं करते, अपना 'साइनबोर्ड' लगाकर नहीं बैठते। वे छिपे रहते हैं, ऊपरसे उनका पता चलना बड़ा कठिन है। अतएव उनकी पहचान सहज नहीं है। संत-मिलन कैसे हो, इसका सबसे सीधा उपाय है—संत-मिलनकी तीव्र आकाङ्क्षा करनी चाहिये और भगवान्‌की कृपाका आश्रय करके भगवान्‌को पुकारना चाहिये संत-मिलनके लिये। बस, भगवत्कृपासे किसी-न-किसी सच्चे संतसे हमारा मिलन हो ही जायगा।

४२—जिसके सङ्गसे, जिसकी बात माननेसे हमारी दैवी सम्पत्ति बढ़े, भगवान्‌की ओर हमारा मन लगे, पापकी ओरसे वृत्ति हटे, भोगोंकी ओरसे मन हटे—वह हमारे लिये संत है।

४३—संत-सेवनका अर्थ है—उसके उपदेशोंको जीवनमें उतारना। संतकी कही हुई बातोंपर हम ध्यान न दें और मनमें सोचें कि हम संत-सेवन कर रहे हैं, तो यह संतके सङ्गका तिरस्कार है।

४४—बुरे वातावरणका प्रभाव उस व्यक्तिपर नहीं होता, जो दुर्भेद्य कवच पहने रहता है। भगवन्नाम और भगवदाश्रय—ये दो दुर्भेद्य कवच हैं।

४५—सत्त्व, रज, तम—तीन गुण हैं और तीनोंकी ही जीवनमें आवश्यकता है, पर वे रहने चाहिये संतुलनमें। इसके लिये आवश्यक है कि सत्त्वगुणको बढ़ावें, रजोगुणको नियन्त्रणमें रक्खें तथा तमको बराबर दबाते रहें। यदि हम रज और तमको भी सत्त्वगुणकी भाँति बढ़ानेकी चेष्टा करेंगे तो जीवन नष्ट हो जायगा।

४६—जगत्‌में जो कुछ है—सब भगवान्‌का है। हम भगवान्‌की वस्तुओंपर मालिकी किये बैठे हैं—यह मकान

हमारा, गहना, कपड़ा, यश-कीर्ति आदि हमारे, तो यह चोरी ही नहीं, डाका डालना है । भगवान् हमारी इस चेष्टापर हँसते हैं । अतएव हमें जो कुछ प्राप्त है, उसे हम भगवान्का मानें और उसका भगवान्की सेवामें उपयोग करते रहें ।

४७—दुःखमें हम प्रियतम भगवान्के प्यारको देखें । भगवान् हमारे लिये दुःखकी परिस्थिति उत्पन्न कर दूर खड़े होकर मुसकराते हैं —इससे बढ़कर हमारे लिये स्वागतकी और क्या चीज हो सकती है ?

४८—भगवान् सबके लिये सम होते हुए भी 'जो प्रेमपूर्वक भगवान्को भजते हैं, वे भगवान्के और भगवान् उनके अत्यन्त निकट हो जाते हैं ।'

४९—वास्तविक भजन वह है, जिसमें भजनके अतिरिक्त किसी भी प्रकारकी कामना, मनोरथ, चाह न रहे ।

५०—भजनकी गति निरन्तर बढ़ती रहे; दिन-रात जो कुछ होता है, वह भजन ही हो जाय ।

५१—भजनका फल क्या चाहें ? उत्तरोत्तर भजनकी वृद्धि, भजनकी विशुद्धि ।

आपको अभी बहुत दिन जीना है !

[दीर्घजीवी पुरुषोंसे भेंट—दीर्घजीवनका गुप्त रहस्य]

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति ष्ठ ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः ।
करति जीवसे वः ॥ (ऋग्वेद १० । १८ । ६)

मानवशरीरको जितना चलाइये, यह उतना ही चल सकता है

चण्डीगढ़, नयी दुलहिन-सी सजी-बजी पंजाबकी नयी राजधानी ! वार्ड नंबर ३ के निवासी ये श्रीप्रभुलाल हैं ।

इनके पास अनेक जिज्ञासु मिलने और तरह-तरहकी जिज्ञासाएँ लिये आते हैं । इनसे भाँति-भाँतिके टेढ़े-मेढ़े प्रश्न पूछते हैं ।

'आखिर इनमें ऐसी क्या विशेषता है, जो देर-सबेर लोगोंका ताँता इनके घरपर लगा रहता है ?'

'कारण मामूली नहीं, बहुत बड़ा है ।'

आपकी जिज्ञासा सहज स्वाभाविक है । जहाँ आज मनुष्यकी औसत आयु चालीस तक है, वहाँ कहते हैं कि श्रीप्रभुलाल दो सौ वर्षके आसपास पहुँच चुके हैं । कैसा आश्चर्य है यह !

जहाँ मानवशरीरके दुरुपयोगके कारण वह असमय ही अशक्त और बेकार हो जाता है, वहाँ श्रीप्रभुलालका वृद्ध शरीर अब भी बखूबी काम करता है । वे अपने घरेलू उद्योग-धंधेमें आज भी ठीक तरह काम करते रहते हैं । फुरसतके समय धार्मिक साहित्य भी पढ़ते हैं ।

मुझे भी इस मानवीय आश्चर्यको देखनेकी उत्कण्ठा थी ।

चण्डीगढ़में जहाँ हर वस्तु सुन्दर और नवीन है, वहाँ ये दीर्घजीवी भी कम आश्चर्यके विषय नहीं हैं !

उनसे बात-चीत की तो जैसे जीवनका एक नया अध्याय ही खुल गया ! लंबी जिंदगी जीनेके सम्बन्धमें नयी जानकारी मिली ।

हर्षातिरेकसे अभिभूत होकर मैंने पूछा—

'आश्चर्य है कि आपने अभाव, बीमारी, बेबसी और खोखली सभ्यताके इस युगमें कैसे इतनी लंबी आयु प्राप्त की है ? कौन-से अध्यापकने आपको जिन्दगीका यह शास्त्र सिखाया है ?'

मेरा प्रश्न सुनकर उनके चेहरेपर हर्षकी एक हलकी-सी मुसकान चमक उठी ।

बोले, 'मेरा वश चले तो आजके इस बनावटी रहन-सहन, निकृष्ट भोजन और आडम्बरपूर्ण जीवनको आग लगा दूँ । जमानेकी इस कृत्रिमताने मानव-समाजका सत्यानाश ही कर दिया है ।'

मैंने उन्हें सहलाया, "आखिर क्या बात है ? आप आजकलकी जिंदगीसे और सभ्यताकी डींग मारनेवाले

समाजसे क्यों इतने नाराज हैं ? विज्ञान तेजीसे चन्द्रमाको बसाने जा रहा है। क्या आप इस प्रगतिसे संतुष्ट नहीं हैं ?'

'रहने दीजिये। तभी तो आज सबसे ज्यादा मौतें हृदयके दौरों और दुर्घटनाओंसे हो रही हैं। मनुष्य युद्धोंमें मक्खी-मच्छरोंकी तरह मर रहे हैं। मुझे तो प्राचीन जीवन-पद्धति ही सबसे बेहतर मिली है। उसीको व्यवहारमें लाकर मैंने यह दीर्घजीवन प्राप्त किया है। बढ़िया बातें कहीं हों, किसीके द्वारा कही जायँ, चाहे कहींसे मिलें, ग्रहण करने लायक हैं। मैंने तो पुराने हिंदू-मनीषियोंके अनुभवोंमें बड़ी सचाई पायी है। उन्हें आज भी जिंदगीमें उतार रहा हूँ।'

'क्या बात कही है आपने। प्रभुलालजी! आजका जमाना नया है। सर्वत्र नये-नयेकी पुकार है। आप ही ऐसे आदमी मिले हैं, जो नये जमानेमें पुरानी पद्धतिके प्रेमी नजर आते हैं।'

सुनकर वे कुछ उत्तेजित-से नजर आये। शायद मेरी बात उन्हें रुची नहीं।

कहने लगे, 'डाक्टर साहब! मैं तो आजकलकी हवासे परेशान हूँ। इस तरक्कीपसंद जमानेको जाने क्या हो गया है ! न खाने-पीनेका ढंग है, न आचार-व्यवहारका शऊर है। कपड़े देखो, तो इतने टाइट पहिनते हैं कि सारा शरीर बुरी तरह कसा रहता है, जैसे ठूँस-ठाँसकर संदूकमें कपड़े ! कमरोंमें अँधेरा रखकर बिजलीके पंखोंसे कृत्रिम हवा, बल्बोंका कृत्रिम प्रकाश, प्रकृतिसे दूर! न प्राकृतिक भोजन, न स्वाभाविक रहन-सहन; न निश्चय निर्द्वन्द्व संतुलित मानसिक अवस्था !'

'आप मेरी जिज्ञासा शान्त करें!'

'आप क्या पूछना चाहते हैं ?'

'आपने यह दीर्घजीवन कैसे प्राप्त किया है ?'

मुखमण्डलपर बालोचित मुस्कान बिखेरते हुए शहद-से मीठे शब्दोंमें वे कहने लगे, 'बहुत आसान है। हर कोई मनचाही आयुका आनन्द लूट सकता है, बशर्ते कि किसी दुर्घटनाका शिकार न हो जाय।'

'फिर भी कुछ गुप्त रहस्य तो होंगे ही ? मैं भी आपकी तरह लंबा और सुखी जीवन जीना चाहता हूं। कृपाकर मुझे भी जीवन-शास्त्रका पाठ पढ़ाइये। इस मामलेमें आप मेरे गुरु हैं, मैं आपका शिष्य!' मेरे शब्दोंमें विनम्रता थी।

'थोड़ी-सी बातें हैं···' वे समझाते हुए कहने लगे, 'प्रकृतिने हर आदमीको दीर्घजीवी बननेयोग्य सशक्त शरीर और स्वास्थ्यको बनाये रखनेवाला दृढ़ मन दिया है। सही दिशाओंमें उनका ठीक उपयोग करके आज भी कोई व्यक्ति शतायु हो सकता है। आहार-विहारका कठोर संयम मेरी जिंदगीमें हमेशा छायाकी तरह बँधा रहा है।'

कहते-कहते वे कुछ रुक-से गये, मानो अतीत-स्मृतिसे कुछ खोज रहे हों।

'क्या कुछ याद कर रहे हैं आप?' मैंने उत्सुकता दिखायी।

'अजी साहब, एक बड़े कामका श्लोक है, जो थोड़ा-थोड़ा स्मृतिपर उभर रहा है। सोचता हूँ, पूरा याद आ जाय, तभी आपको सुनाऊँ।'

'तो क्या आप संस्कृत पढ़े हैं ?'

'पढ़ा तो नहीं, कुछ समझता जरूर हूँ। मेरे पिताजी एक श्लोक बोला करते थे। बचपनमें उन्होंने उसे रटाया भी था। बुढ़ापेमें कुछ याददाश्त कमजोर हो गयी है, पर···।'

'कोई हर्ज नहीं। आप शान्त मनसे श्लोक याद कर लीजिये।'

फिर दो क्षण बाद मृदुहासकी चुटकियाँ बजाते हुए वे बोले, 'लीजिये, पूरा याद आ गया अब। गाँठ बाँध रखनेकी सलाह है इसमें।'

कक्षामें पढ़ानेवाले गम्भीर अध्यापककी तरह वे बोलने लगे—

जुषस्व सप्रथस्तमं वचो देवप्सरस्तमम्।
हव्या जुह्वान आसनि ॥　(ऋग्वेद १। ७५। १)

'क्या मतलब है इस श्लोकका ?'

'मतलब यह है कि शारीरिक और आत्मिक सुख प्राप्त करना चाहते हो, तो अपने आहार-विहार और जीवनकी सब चेष्टाओंमें पूरी-पूरी सादगी रक्खो। आडम्बर, जटिलता, कृत्रिमता और झूठे बनावटी जीवनसे बचो। ब्रह्मचारी बनो—जितना ज्यादा सम्भव हो, उतना ही सही।

स्वादो पितो मधो पितो वयं त्वा ववृमहे।
अस्माकमविता भव ॥　(ऋग्वेद १। १८७। २)

अर्थात् मनुष्यको ऐसा आहार करना चाहिये जो मधुर, रसयुक्त, स्वादिष्ट ताजे अन्नसे बनाया गया हो। जो ताजा

पौष्टिक आहार है, जो रोग नष्ट कर आयु-बलकी रक्षा करता है, वही पवित्र आहार ग्रहण करना चाहिये। तीखे, कसैले, बासी-बुसे और मांस-मदिरा (तम्बाकू-पान-सिगरेट) आदि अभक्ष्य पदार्थोंका सदा निषेध रक्खो। ये सब घृणित हैं और आदमीके शत्रु हैं।'

'बस यही है मेरे लंबे जीवनका रहस्य। जब यह बहुमूल्य शिक्षाएँ मेरे पास हैं, तो हम जल्दी मरनेकी बात क्यों सोचें?' उन्होंने पूर्ण विश्वासपूर्वक समझाया।

मेरा ख्याल था कि इतनी लंबी आयु हो जानेके कारण उनकी वाणीमें कुछ नैराश्य आ जायगा। पर नहीं, वह जीवनके प्रति अब भी उसी प्रकार आशावान् थे। युवकों-जैसा दमखम, जीवनके प्रति जवानों-जैसा चाव, बच्चों-जैसा अदम्य उत्साह!

फिर अपने जीवनके विषयमें बताते हुए बोले—

'जो थोड़े-से पैसे कमाता हूँ, बस उसीमें अपनी थोड़ी-सी जरूरतें पूरी कर लेता हूँ। न बहुत-सा रुपया जोड़नेकी अतृप्तिसे पैदा हुए ज्वालामुखीमें जलता हूँ, न गरीबी, बेबसी और भुखमरीके रेगिस्तानमें भूखा-प्यासा रहता हूँ। सुबह दूध, मध्याह्नमें साग, चावल और दाल, घरकी गायका दूध-घी, थोड़ेसे मौसमी फल, मूँगफली, खजूर, खोपरा और अपने कामके प्रति उत्साह—बस, यही है मेरे लंबे जीवनका नुस्खा।'

'बड़ा संक्षिप्त! वाह! वाह!! क्या कोई कसरत नहीं करते हैं आप?'

'बस, मामूली-सी कसरत है। सुबह-शाम थोड़ा घूम-फिर लेता हूँ। कहीं जाना होता है, तो साइकिल नहीं लेता, पैदल ही चलता-फिरता हूँ। उसी चलने-फिरनेसे अबतक ये बूढ़े हाथ-पाँव चल रहे हैं।...और...आगे भी चलते रहेंगे।'

'आगे कैसे चलते रहेंगे! क्या कुछ और भी रहस्य है?'

'अनुभवने मुझे सिखाया है कि इस शरीररूपी मशीन-को जितना चलाइये, यह उतनी ही अधिक चलती है। जितना खींचो, उतनी ही आगे खिंचती चलती है। यदि निरुत्साह होकर मामूलीसे रोग-शोकसे पस्त-हिम्मत होकर बैठ जाओ, तो यह बेकार कूड़ा-करकट हो जाती है, कबाड़ीके यहाँ पड़ी रद्दी चीजोंकी तरह टूटी-फूटी! बस, मेरा तो यह सिद्धान्त ही बन गया है कि बस चलते रहो! चलते रहो!! रुको मत, बैठो मत। मनमें थकान मत मानो! अपने काममें तन्मयतासे लगे रहो!'

उस दीर्घजीवी-मानवसे बातें कर जो सुख और उत्साह पैदा हुआ, वह कभी न भूलनेकी वस्तु है। सचमुच उनकी बातें अनुभवके समुद्रमेंसे निकले हुए कीमती मोतियोंकी तरह हैं।

पूज्य सातवलेकरजीके शतायु होनेका रहस्य

वेदोंके प्रकाण्ड पण्डित श्रीसातवलेकरजीने अपनी आयुके सौ वर्ष पूर्ण किये थे। वे आधुनिक युगके तपोनिष्ठ ऋषि-तुल्य माननीय और पूज्य थे। सातवलेकरजीद्वारा वेदोंके अध्ययनका जो उपयोगी कार्य हुआ, वह मानो एक संस्थाका ही विशाल कार्य है। उन्हें अनवरत मानसिक श्रम करते-करते कैसे सौ वर्षोंसे अधिकका सुख, सम्मान और समृद्धि मिली, यह सबके लिये प्रेरणाका दीपक ही है।

मैंने महर्षिसे पूछा, 'आप सौ वर्षोंसे अधिक जीवनका सुख किन सिद्धान्तोंकी वजहसे उठा रहे हैं? आपके उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घजीवनका क्या गुप्त रहस्य है?'

यह पूछनेपर वयोवृद्ध सातवलेकरजीने जो दिनचर्या बतायी, वह अपने आपमें बड़ा महत्त्व रखती है।

वे बोले, 'महेन्द्रजी! ब्राह्ममुहूर्तको मैं बड़ा महत्त्व देता हूँ। वही मनुष्यका ईश्वरसे बातचीत करनेका समय है। उस समयकी प्राणवायु जीवनको लंबा करनेवाली है...। सवेरे साढ़े चार बजे उठता हूँ। उठते-उठते कुछ ऐसी आदत बन गयी है कि खुद ही उस वक्त मेरी आँख खुल जाती है। शौच, मुखमार्जन करके साढ़े पाँच बजे गरम जलसे स्नान करता हूँ।'

लोग कहते हैं कि 'ठण्डे जलसे स्नान करना प्रकृतिके अधिक समीप है। इसके बारेमें आपका क्या ख्याल है?' मैंने प्रश्न किया।

'बहुत कुछ ठीक भी है। मैं खुद अस्सी वर्षतककी आयुमें शीतल जलसे ही स्नान करता था। तब वह अच्छा लगता था, स्फूर्ति भी देता था, पर अब अधिक वृद्धावस्था-की अवस्थामें शीतल जलसे सर्दी लग जाती है। इसी कारण गरम जलसे ही स्नान करता हूँ। स्नानका सम्बन्ध लंबी आयुसे है। वह शारीरिक स्वच्छता देता है और ईश्वरकी

ओर मनको लगाता है । यह पवित्र चिन्तन आयुकी वृद्धि करनेवाले तत्त्व हैं । मेरा तो यह सिद्धान्त है—

यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा ।
सुवाति सविता भगः ॥

(सामवेद १३५१)

'क्या अर्थ हुआ ?' मैंने पूछा ।

'प्रातःकालीन प्राणादि वायु सूर्योदयके पूर्वतक निर्दोष रहती है । अतः दीर्घजीवनके उत्सुकको प्रातःकाल जल्दी उठकर इस प्राणवायुका सेवन करना चाहिये । इससे स्वास्थ्य और आरोग्य स्थिर रहता है और धनकी भी प्राप्ति होती है ।'

कुछ और भी—

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥

(अथर्ववेद २ । ४ । ४)

अर्थात् मैं नित्यके हलके, पर नियमित व्यायामद्वारा रक्तशोषण करनेवाले सभी रोगोंके कीटाणुओंको और बुरे विचारोंको दूर रखता हूँ और ब्रह्मचर्यके द्वारा अपनी शक्तियोंको अपने शरीरको बनाये हुए हूँ' मतलब यह कि लंबा जीवन पानेके लिये ब्रह्मचर्य और व्यायाम दोनों ही जरूरी हैं ।

'आगेका क्या कार्यक्रम रहता है ?'

'फिर दो घंटे जो काम करता हूँ, उससे मेरा मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य ठीक रहता है । पूरे दिन मनमें शान्ति और संतुलन बना रहता है । यह बातें मैंने प्राचीन भारतीय ऋषियोंसे सीखी हैं ।' वे बोले ।

'संक्षेपमें वे सब दुहरा दीजिये !'

''साढ़े पाँच बजेसे साढ़े सात बजेतक प्राणायाम, ध्यान और गायत्री तथा महामृत्युञ्जय मन्त्रका जाप करता हूँ । इसी समय 'उज्जायी' प्राणायाम दो सौ बार सबेरे और शामको करता हूँ । सबेरे दो घंटे और शामको एक घंटा अष्ठान करता हूँ ।''

'इससे क्या लाभ है ?'

'लाभ ! सबसे बड़ा लाभ शारीरिक शौच है । इससे मैं पिछले २५ वर्षोंमें कभी बीमार नहीं हुआ हूँ ।'

'और दिनमें आप क्या-क्या करते हैं ?'

'खुद ही मैंने अपनी रुचिके अनुकूल काम ले लिया है । मैं वेदोंके अनुवादमें विशेष दिलचस्पी रखता हूँ । मैं इस वृद्धावस्थामें भी वेदोंका अध्ययन करता रहता हूँ । सबेरे साढ़े सातसे साढ़े ग्यारह बजेतक वेदानुवादका कार्य करता हूँ । आदमीको अपनी रुचिका कोई काम करनेसे मनमें बड़ा धैर्य मिलता है । वह समझता है कि मैं भगवान्की सेवा कर रहा हूँ । इसके प्रोत्साहनसे जीवन बढ़ता है ।'

'आप भोजन कब करते हैं ?' मैंने नयी जिज्ञासा रक्खी ।

'मैं निश्चित समयपर भोजन करना सबसे जरूरी मानता हूँ । दिनके साढ़े बारह बजे भोजन करनेका नियम बना लिया है । इस समयकी पाबंदीका नतीजा यह है कि सायंकाल ८ या ८॥ बजे फिर खूब भूख लग उठती है । यह नहीं कि कभी नौ बजे भोजन किया, तो कभी दो बजे । मेरा अनुभव है कि अस्तव्यस्त रहने, कभी किसी समय, कभी दूसरे समय भोजन करनेमें अनियमित रहनेसे आदमी बीमार रहता है । ठीक वक्तपर किया हुआ थोड़ा-सा भोजन भी स्वास्थ्यवर्द्धक है । यह मेरा निजी अनुभव है ।'

'विश्रामका क्या नियम रक्खा है आपने ?'

'साढ़े बारहसे दिनमें एक घंटा विश्राम, रात्रिमें नौ बजे शयन । इस तरह एक घंटा दिनमें तथा साढ़े सात घंटे रात्रिमें, कुल साढ़े आठ घंटे विश्रामका क्रम बना रक्खा है । इस विश्राममें शरीरकी टूट-फूट और थकावट दूर हो जाती है । मैं गहरी नींदमें सोनेका अभ्यस्त हूँ । यह नहीं कि नींद नहीं आ रही है और यों ही फालतू आलस्यमें पड़े हैं । ऐसे पड़े रहनेसे मनमें कुविचार आते रहते हैं । शरीरकी तरह मैं पेटको भी विश्राम देता हूँ ।'

मैंने उत्सुकतापूर्वक आगे पूछा—

'पेटको विश्राम देनेसे आपका क्या मतलब है ?'

'आप मेरा संकेत नहीं समझे । मैं अच्छे स्वास्थ्यके लिये उपवासका भी प्रयोग करता हूँ । तन्दुरुस्त रहनेके लिये भूखा भी रहता हूँ ।'

'भूख और तन्दुरुस्ती ! क्या इन दोनोंका भी आपसमें कुछ सम्बन्ध है ?'

'सम्बन्ध है और बहुत है । पेटमें इकट्ठे मलविकार और विजातीय पदार्थ शरीरमें सड़ते-गलते रहते हैं । इनको निकालनेमें सावधानी न बरती जाय, तो स्वास्थ्यके जल्दी गिर

जानेकी आशङ्का रहती है । विजातीय द्रव्य किसी-न-किसी तरह रोगके रूपमें शरीर फोड़कर निकलेगा ही ।' उन्होंने समझाया ।

'क्या कभी जुलावका भी इस्तेमाल किया है आपने ?'

'स्वास्थ्यको स्थिर बनाये रखनेके लिये शारीरिक सफाई एवं मल-निष्कासनकी बड़ी आवश्यकता है । गरिष्ठ पदार्थ खानेके कारणवश पेटमें गड़बड़ी उत्पन्न होनेपर इसके लिये जुलाब आदि कृत्रिम साधन काममें लाये जाते हैं, किंतु सबसे उपयोगी प्राकृतिक और निरापद साधन है—उपवास ।'

'क्या आपने कभी जुलाब लेकर उसमें कोई बुराई पायी है ?' मैंने प्रश्न किया । वे कुछ गम्भीर होकर बोले—

'मैं जुलाब बहुत कम लेता हूँ, पर मेरा अनुभव है कि जुलाब-जैसे अप्राकृतिक साधनोंमें एक बुराई यह होती है कि इनकी प्रतिक्रिया इतनी तीव्र होती है कि ये मल-पदार्थके साथ ही पाचक अम्लों, रसोंको अनुचित मात्रामें बाहर निकाल देते हैं । उपवासमें किसी बातकी आशङ्का न होनेसे इसका अत्यधिक महत्त्व मानता हूँ । मैं तो पाचन-संस्थानको विश्राम देनेमें ही अधिक महत्त्व समझता हूँ ।'

'आध्यात्मिक दृष्टिसे भी क्या उसका कोई लाभ आपने उठाया है ?'

निराहार रहनेसे विषय-विकारोंकी निवृत्ति होती है । उपवाससे नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति होती है, नैसर्गिक बुद्धिका उदय होता है । मैं तो यहाँतक कहता हूँ कि रोग-निवारण, आत्मविश्वासकी प्राप्ति, प्रेमकी विशालताकी दिव्य अनुभूति, विराट्के साथ आत्मसामञ्जस्य आदिका महत्त्वपूर्ण प्रसाधन उपवास है ।'

यह कहते-कहते वे जैसे आत्मविभोर हो उठे ।

'फिर जो लोग सौ वर्षोंसे भी अधिक जीना चाहते हैं, उनके लिये आपकी जिंदगीका निचोड़ क्या है ?'

'महेन्द्रजी, वैसे अपनी इस लंबी बातचीतके दौरानमें मैंने सब कुछ पहले ही स्पष्ट कर दिया है । आप फिर दुहरानेको कहते हैं, तो दुबारा सही ।'

वे बोलने लगे, 'मेरा अनुभव कुछ कहता है तो यह कि प्रतिदिन सूर्य-नमस्कार, आसन, प्राणायाम लोग नियमित करते रहेंगे, तो वे रोग-व्याधिसे दूर रहेंगे । शारीरिक बीमारी उनके पास नहीं फटकेगी । प्रतिदिन आधा घंटा शरीरके इस व्यायामको देंगे, तो उनको मुझ-जैसा उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त हो सकेगा और दीर्घजीवन भी प्राप्त हो सकता है ।'

'क्या योगके आसन, सूर्य-नमस्कार इत्यादिको आपने खुद अपनाकर देखा है ?' मेरी शङ्का सामने आयी ।

'अजी साहब, अपनाया क्या, वह तो मेरी आदत और इस लंबी जिंदगीका एक अविभाज्य अङ्ग ही बन गया है । योगके आसन, सूर्य-नमस्कार और प्राणायाम करनेसे मुझे अत्यन्त लाभ हुआ है । मैं पच्चीसवें वर्ष पहाड़ीपर नहीं चढ़ सकता था । प्राणायामके बलसे पचासवें वर्षमें पहाड़ीपर दौड़ते हुए जाता और दौड़ते हुए आता था । दैनिक-चर्यामें सबेरे आठ बजेसे पूर्व आधा घंटा सूर्य-नमस्कार, आसन तथा प्राणायाम (विशेषकर उज्जायी) करनेका मैंने नियम रक्खा है और बहुत फायदा उठाया है ।'

'ठीक-ठीक ! यह अमूल्य अनुभव तो आपने शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रखनेके लिये बतलाये हैं, लेकिन उत्तम मानसिक स्वास्थ्यके बारेमें कुछ भी सलाह नहीं दी है ।'

'अभी बात पूरी कहाँ हुई !' वे कहने लगे, 'आधी बातपर ही आप उकताने लगे । लंबी जिंदगी पानेके लिये मानसिक स्वास्थ्यका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । मानसिक शान्ति पाने, मानसिक संतुलन बनाये रखने, चिन्तामुक्ति और कुविचारोंसे बचनेका भी मैंने एक नुस्खा बना लिया है ।'

'नुस्खा ! मानसिक स्वास्थ्य बनाये रखनेका भी नुस्खा है ! खूब-खूब ! कृपा कर इस पक्षको भी स्पष्ट कीजिये । नहीं तो, बात अधूरी ही रह जायगी ।'

वे कहने लगे, 'जैसा सुन्दर आप मेरा शारीरिक स्वास्थ्य देख रहे हैं, वैसा ही उत्तम मेरा मानसिक स्वास्थ्य भी है । मैंने एक सिद्धान्त बना लिया है कि सुख-दुःख, हानि-लाभ, शीत-उष्ण आदि सांसारिक द्वन्द्वोंको शान्तिसे सहन करनेका अभ्यास करना और उस शक्तिको लगातार बढ़ाते रहना । मेरा अनुभव है कि सुख-दुःखके प्रति यदि मनुष्यका दृष्टिकोण सम हो जाय, तो उसके लिये चिन्ता, शोक, व्यग्रता एवं विकलताके सारे कारण ही समाप्त हो जाते हैं । अपने प्रति सुखद परिस्थितियाँ पाकर जहाँ कोई प्रसन्न होता है, वहाँ प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी उसे कुछ-न-कुछ इसी विचारसे प्रसन्न रहना चाहिये कि जो

परिस्थितियाँ आज मेरे लिये दुःखका हेतु बनी हुई हैं, उनमें कहीं-न-कहीं हमारा दूसरा मानव-बन्धु सुखका अनुभव कर रहा होगा। दुःख-सुखका अपना कोई अस्तित्व अथवा प्रभाव नहीं है। इसकी वेदना हमारी स्वीकृति अथवा अस्वीकृतिपर निर्भर करती है। जिन परिस्थितियोंको हम सुखद स्वीकार कर लेते हैं, वे सुखदायक और जिन्हें दुःखद मान लेते हैं, वे दुःखदायक लगती हैं। यह स्वीकृति या अस्वीकृति हमारे मानसिक दृष्टिकोणपर निर्भर करती है। अगर हमारा मानसिक स्तर गिरा हुआ है, हममें मनुष्योचित धीरता, गम्भीरता और सहिष्णुताकी कमी है, तो जरूर हम तनिक-तनिक-सी प्रतिकूलताओंसे दुखी होकर रोते-कलपते रहेंगे। यदि हम आत्मासे ऊँचे हैं, तो कोई भी दुष्ट और चिन्ताजनक परिस्थिति हमें प्रभावित नहीं कर सकती। मैं तो एक सुख-दुःखपूर्ण नाटककी तरह इस जिंदगीको देखकर जी रहा हूँ। सब प्रकारकी चिन्तासे दूर रहा हूँ। 'पश्येम शरदः शतम्'—इस भावको सदा मनमें रखता हूँ। यही मेरी मानसिक तृप्तिका रहस्य है।'

'मैंने आपका बहुत-सा समय ले लिया है, इसके लिये क्षमा करें। बस, आखिरी बात और पूछना चाहता हूँ।'

'वह भी पूछ लीजिये।'

'आपने मनोरञ्जनको जीवनमें क्या स्थान दिया है? कैसे अपने मन तथा शरीरकी थकान दूर करते हैं?'

मुस्कराते हुए वे कहने लगे—'मनोरञ्जन! मनोरञ्जन आदमीकी रुचि, दृष्टिकोण और सामाजिक स्तरपर निर्भर है। अपने प्रिय या उत्तम उद्योगमें मन लगाना भी एक सुख और प्रेरकभाव देता है। वेदानुवादका कार्य, पत्रिकाओंका सम्पादन, लेखन, भ्रमण आदि सब मेरे लिये मनोरञ्जनके विभिन्न साधन हैं। इनसे मुझे दीर्घजीवनकी प्रेरणा मिलती है।'

'शतायु बननेके लिये क्या कुछ और भी उपयोगी उपाय आप बतायेंगे?'

"मैं एक बात और कहना चाहता हूँ, दीर्घजीवी बननेवालेको 'दुःखमय जगत्, क्षणभङ्गुर जगत्' (यह जगत् पापमय है। यह जीवन क्षणभङ्गुर है) आदि कमजोर विचारोंको अपने मनमें स्थान नहीं देना चाहिये। सदैव आशावादी बना रहना चाहिये। 'हम ईश्वरके महान् लक्ष्यकी पूर्तिके लिये ही जी रहे हैं'—यह भाव मनमें रखना चाहिये। ईश्वरको अपने अंदर चारों ओर तथा उन्हें सत्-चित्-आनन्दस्वरूप मानना चाहिये। 'मेरा जीवन एक यज्ञके समान दूसरोंकी सेवाके लिये चल रहा है'—ऐसा ध्येय बनाकर जीना चाहिये। ईश्वर अपने पवित्र कार्योंकी पूर्तिके लिये मनुष्यको दीर्घजीवन प्रदान करता है।"

'धन्यवाद! आपने जीवनका निचोड़ ही दे दिया है।' चरणस्पर्श करते हुए मैंने उस शतायु महापुरुषसे विदा ली।

मैंने देखा, उनकी बातों और उनके अनुभवोंको व्यावहारिक स्वरूप देकर दीर्घजीवन प्राप्त करना सचमुच सम्भव है। उनकी हर बात खुद आजमाई हुई थी। भारतीय ऋषि-मुनियोंने अपने अनुभवके आधारपर मनुष्यकी सामान्य आयु एक सौ पचीस वर्ष घोषित की है। यदि उनके अनुभवोंको काममें लाया जाय, तो सामान्य मनुष्योंके लिये भी सौ वर्षोंकी आयु सहज सम्भव है।

संसारके सभी प्राणिशास्त्री, अनुभवी, तत्त्ववेत्ता तथा आयुर्वेद-विज्ञ एक स्वरसे यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्यकी औसत आयु सौ वर्ष होनी चाहिये।

धनका अभिमान नहीं करना चाहिये

धनका अहंकार नहीं करना चाहिये। शामके बाद जब जुगनू उड़ता है, तब वह समझता है कि मैं ही जगत्को प्रकाश दे रहा हूँ; पर जब तारे उगते हैं, तब उसका अभिमान गल जाता है। उस समय तारे सोचने लगते हैं कि हम ही संसारको प्रकाश दे रहे हैं; कुछ देर बाद चन्द्रमाका उदय होता है, तब तारे लज्जासे मलिन हो जाते हैं। अब चन्द्रमा सोचता है कि मेरी ही ज्योतिसे सारा जगत् हँस रहा है, मैं ही जगत्को प्रकाश देता हूँ; देखते-ही-देखते अरुणोदय हो जाता है। सूर्य उगता है, तब चन्द्रमा एकदम फीका पड़ जाता है; कुछ देर बाद तो वह दिखायी ही नहीं देता। धनवान् लोग इन सबपर विचार करेंगे तो धनका अभिमान नहीं होगा।

—रामकृष्ण परमहंस

भक्तिप्रियो माधवः

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)

श्रीमुखका वचन है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

अर्थात् 'पत्र, पुष्प, फल, जल जो कोई मुझे भक्तिके साथ अर्पण करता है, उस भली प्रकार यत्न करनेवालेकी भक्तिके साथ दी हुई वस्तु मैं प्रीतिसहित भक्षण करता हूँ ।'

प्रभुके प्रेमसे स्वीकार करनेमें उस वस्तुका महत्त्व नहीं है, महत्त्व है—भक्ति-भावका । एक पत्ता, एक पुष्प तथा जल-जैसी साधारण बिना मूल्यकी वस्तुको भी वे बड़े प्रेमसे स्वयं आरोगते हैं, यदि यह भक्तके प्रेमसे सनी हो । महाराज दुर्योधनने छप्पन प्रकारके व्यञ्जनोंसे श्रीकृष्ण भगवान्का आतिथ्य करना चाहा; किंतु प्रभुने स्वीकार नहीं किया और विदुर-पत्नीके प्रेमसे दिये हुए केलेके छिल्कोंको आनन्दसे ग्रहण किया । वह देवी प्रेमातिरेकसे इतनी बेसुध हो गयी थी कि केलेकी गिरी फेंककर छिल्कामात्र प्रभुको दे रही थी और प्रभुको भी मानो यह सुधि नहीं रही कि वे क्या आरोग रहे हैं । वे छिल्के नहीं थे, वे तो वास्तवमें विदुर-पत्नीका प्रेम था, जो प्रभुको इतना मधुर लग रहा था । यह प्रभुके समयकी एक ऐतिहासिक घटना है; किंतु प्रभुका तो इस कलिकालमें भी वही नियम है, उसमें अन्तर नहीं है । श्रीनामदेव, धन्ना भक्त तथा कर्माबाई आदि भक्तोंकी अर्पण की हुई भोजन-सामग्रीका प्रभुने प्रेमसे भोग लगाया—यह प्रसिद्ध है । आधुनिक समयमें भी कतिपय ऐसे भक्त हैं, जिनके अर्चाविग्रहके रूपमें उनके इष्टदेव भगवान् भक्तके मनोरथका आदर करके भोग लगाते हैं; किंतु यह प्रायः भक्त और उनके भगवान्की अपनी निजी बात है, जिसकी सत्यताका प्रभाव भक्तका अपना अनुभवमात्र है, दूसरा कोई उसे सत्य माने या न माने । किंतु निम्नलिखित घटना ऐसी थी, जिसको राजस्थानके एक प्रसिद्ध नरेशने अपने दरबारियोंके साथ स्वयं देखा था । यह घटना प्रथम महायुद्धके समयकी है ।

उस राज्यमें तथा साथ लगते मध्यभारतके राज्योंमें प्रायः यह प्रथा प्राचीनकालसे चली आती है कि हर एक समृद्ध ग्राममें एक ठाकुरजीका मन्दिर होता था, जिसके साथ एक घर पुजारीका तथा एक ग्राम अतिथिके लिये लगा रहता था । ठाकुरजीकी सेवा-पूजाके लिये थोड़ी सहायता राज्यकी ओरसे और कुछ ग्रामकी ओरसे नियत होती थी, जिससे पूजाकी व्यवस्था और पुजारीकी गृहस्थी चलती थी ।

ऐसे एक ग्रामका पुजारी कारणवश दूर देशमें गया हुआ था । उसकी अनुपस्थितिमें उसकी धर्मपत्नी भगवान्की सेवा-पूजा करती थी । उसकी संतानके रूपमें दो कन्याएँ थीं । बड़ीकी आयु बीस वर्षकी होगी । उसका विवाह समीपके ग्राममें हो चुका था और छोटीकी आयु आठ-नौ वर्षकी होगी, जो माताकी गृहकार्यमें सहायता करती थी ।

एक दिन ब्राह्मणीको संदेश मिला कि उसकी पुत्री प्रसवपीड़ासे ग्रस्त है और उसने अपनी माताको आग्रहपूर्वक शीघ्र बुलाया है । ब्राह्मणी बड़े असमञ्जसमें पड़ गयी । ऐसे विकट समयमें पुत्रीके पास जाना टाला नहीं जा सकता था । ग्राममें दूसरा घर किसी ब्राह्मणका था नहीं, जिसको भगवान्की सेवा-पूजा सौंप सकती; इसलिये उसको अपनी ही छोटी कन्याको यह कार्य सौंपना पड़ा । इधरके ग्रामोंके चौकीदार प्रायः भील जातिके लोग होते हैं । ब्राह्मणीने एक

भील-पत्नीको कन्याकी देखरेख तथा सहायताके लिये राजी कर लिया और रात्रिको उसके समीप सोने तथा सेवाके लिये कह दिया एवं कन्याको समझाकर तथा उत्साह दिलाकर स्वयं चली गयी।

दूसरे दिन प्रातः बच्चीने भीलनीकी सहायतासे अनाज पीसा, चौका लगाया, बासन माँजे, धोये। स्वयं नदीमें स्नान करके जल भरके लायी और श्रीठाकुर-पूजा की। समयपर चूल्हा जलाया और साग, रोटी तैयार करके ठाकुरजीके आगे भोग धरकर पर्दा कर दिया। भोग उतारनेके लिये जब पर्दा उठाया तो उसने देखा कि ठाकुरजीने भोग नहीं लगाया; क्योंकि चारों रोटी वैसी-की-वैसी रक्खी थीं। वह सोचने लगी कि 'अवश्य ही रसोई बनानेमें उससे कोई त्रुटि रह गयी है, अथवा कोई अपवित्रता रह गयी होगी।' उसने वह भोग उठा लिया। दूसरी बार स्नान करके बड़े ध्यान और प्रयत्नसे पवित्रताका पूर्ण विचार रखकर फिरसे भोजन बनाया और ठाकुरजीके समक्ष प्रस्तुत किया। ऐसा करते-करते मध्याह्नोत्तर चार बजेका समय हो गया। बच्चीने प्रातःकालसे अन्न-जल ग्रहण नहीं किया था। पर्याप्त समयके पश्चात् पर्दा उठाया तो उसे दिखा कि ठाकुरजीने अब भी भोग नहीं लगाया। उसके हृदयमें चोट लगी और वह भूखी-प्यासी सुबक-सुबक कर रोने लगी। रोते-रोते कितना समय बीत गया, इसका उसको कुछ पता नहीं। फिर उसको एक झपकी-सी आयी और उसने सुना 'मैंने भोग लगा लिया है, तू प्रसाद ले ले।' उसने सचेत होकर पर्दा उठाया तो दो रोटी तथा आधा साग था। कन्याका मन प्रसन्नतासे खिल उठा और जब उसने प्रसाद ग्रहण किया तो वह अपूत बन चुका था। उसके जन्म-जन्मान्तरके पाप-ताप धुल गये। अब तो जब वह भोग धरती तो ठाकुरजी आधा भोग आरोग लेते। यह क्रम दो दिन चला। तीसरे दिन जब उसकी माता आयी तो कन्याने अपना अनुभव माताको सुनाया। माताने कन्याके कथनकी सत्यताको जाँचनेके लिये उस दिन भी कन्याको ही रसोई बनाकर भोग लगानेके लिये कहा। उसने देखा कि वास्तवमें दो रोटी तथा आधा साग प्रसादके रूपमें बचा, जिसको माता-पुत्रीने ग्रहण करके अपना जन्म सफल कर लिया। अब तो नित्यप्रति माता घरका और सब कार्य तो कर लेती, किंतु ठाकुरजीके लिये रसोई बनाकर भोग लगानेका कार्य कन्यासे करवाती। थोड़े दिनोंमें कन्याका पिता भी आ गया, जो इस विचित्र घटनाको देखकर निहाल हो गया।

थोड़े ही समयमें यह बात पूरे ग्राममें फैल गयी। पटेल, पटवारी तथा अन्य व्यक्तियोंने भोग लगते देखा। एक ग्रामसे दूसरे ग्राम—यों होते-होते इस विचित्र घटनाकी सूचना राजधानीमें नरेशके कानोंतक पहुँची। उन्होंने इसकी सत्यताकी जाँचके लिये अपने एक विश्वस्त अधिकारीको भेजा। अधिकारीने घटनाकी सत्यता घोषित की तो राजाके द्वारा उस कन्या, उसके माता-पिता तथा श्रीठाकुरजीके विग्रहको बड़े सम्मानके साथ सुखपूर्वक राजधानीमें लानेका प्रबन्ध किया गया। वे सभी आये। महलमें एक कमरा गङ्गाजलसे धुलवाकर पवित्र किया गया। वहाँ कन्याने रसोई बनायी तथा सभीके सामने चार रोटी तथा दो प्रकारके सागका भोग धरकर कन्या दूर अपने माता-पिताके पास जाकर बैठ गयी और तीनों ही मनमें प्रभुसे लाज रखनेके लिये प्रार्थना करने लगे। अपने भक्तकी लाज रखनेके लिये प्रभुने कब क्या नहीं किया। इस आधुनिक युगमें भी सिपाही बनकर पहरा दिया, गार्ड बनकर रेल चलायी तथा तारबाबूका काम किया। आज भी उन्होंने अपने भक्तकी लाज रक्खी। आधा प्रसाद ही पर्दा उठानेपर मिला, जिसको कन्याने नरेश तथा सभी राजप्रासाद-निवासियोंमें बड़े प्रेम तथा

आनन्दसे वितरण किया । उस पवित्र प्रसादका कण-मात्र भी जिसने लिया, कृतकृत्य हो गया । कन्या तथा उसके माता-पिता एवं ठाकुरजीको स्वर्ण-के आभूषण, रेशमी वस्त्र तथा बहुत-से उपहारके साथ बड़े आदर-सम्मानसे उनके ग्राम पहुँचा दिया गया । ग्राम पहुँचनेपर माता-पिताको स्वप्नमें भगवान्‌का आदेश मिला कि 'कलियुगमें इस सत्ययुगी कन्याका और निवास उचित नहीं; अब यह मेरी हो चुकी है; मैं इसको अपने धाममें ले जा रहा हूँ । तुमलोग शोक न करके प्रसन्न होना ।' उसी रात्रिको भक्तिमती कन्या प्रभुके साथ चली गयी । बोलो भक्त और उसके भगवान्‌की जय !

प्रलयंकर

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः ।
वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
नुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक् ॥
(भागवत ४ । ५ । १०)

जटाएँ बिखर रही हैं और नृत्यके वेगसे अपने आघातों द्वारा तारामण्डलको ध्वस्त करती जा रही हैं । एक-एक जटाका कशाघात शत-शत ब्रह्माण्डोंको छिन्न-भिन्न किये दे रहा है ।

त्रिशूल लिये कर ऊपर उठा है और उसकी नोकपर लोकधारक दिग्गजोंके निष्प्राण शरीर झूल रहे हैं । झूल रहे हैं और फटते जा रहे हैं । उनका मेद-मज्जा कण-कण बिखर रहा है ।

मस्तकका गङ्गा-प्रवाह उमड़ रहा है । डुबाता जा रहा है सम्पूर्ण दिक्‌मण्डलको । दिशाओंका अस्तित्व लुप्त हो चुका है—पृथ्वीका भला पता क्या लगना है । पता तो नहीं है सूर्य-चन्द्र एवं नक्षत्रोंका ।

धू-धू धधक रही हैं सम्पूर्ण दिशाएँ । तृतीय नेत्र सम्पूर्ण खुला है और उससे प्रलयाग्निकी लपटें चारों ओर लपलपाती दौड़ रही हैं ।

पता नहीं पृथ्वी कब चरणाघातसे चूर्ण हो गयी । वह दग्ध हुई और उसके धूलिकण भी निःशेष हो गये । जलमें उसकी सत्ता गयी और जलको भाल-नेत्रकी ज्वालाने शुष्क कर दिया !

वेग—प्रचण्डवेग नृत्यका, और ध्वंस हो रही है ब्रह्माण्डराशि । महाप्रलयका महानर्तक प्रचण्ड अट्टहास करता नृत्य कर रहा है । वह नृत्यलीन है—उसका उन्मद नृत्य !

'महाप्रलयके समय होता है यह महानृत्य'—ऐसी बात कही किसने ? चल रहा है—निरन्तर चल रहा है यह नृत्य । तुम देखते नहीं ? भय लगता है तुम्हें ? अभाग्य तुम्हारा ।

प्रलयंकर महाप्रलयके समय तो नृत्य करते ही हैं; किंतु इस समय भी वे समाधि लगाये बैठे नहीं हैं । अपने चारों ओर एक बार दृष्टि डालकर देखो—सृष्टि-कर्ताके कर यदि तुम्हें सर्वत्र नव-जीवनका सृजन करते दीखते हैं तो प्रलयंकरके नृत्य करते—ध्वंस करते पद तुम्हें क्यों नहीं दीखते ?

जीवनका क्षण-क्षण मरण वरण कर रहा है । प्रतिक्षण कण-कण छीज रहा है । अणु-अणु टूट रहा है—नष्ट हो रहा है । जीवन वेगपूर्वक किसीकी ठोकर खाकर मृत्युके मुखगह्वरकी ओर लुढ़कता जा रहा है । तुम्हें यह दीखता नहीं ? अभाग्य तुम्हारा ।

गर्व-अहंकार, मोह-ममता किसपर ? किसके लिये ? तुम अपनेको समझते क्या हो ? किस गणनामें हो तुम ? पृथ्वीमें तुम सबसे महान्, सबसे धनी, सबसे सम्मानित हो ?—अपनी गणना पृथ्वीमें देख लो । चलो, यह भी सही; किंतु इस अपने सौर-जगत्‌में—इस ब्रह्माण्डमें पृथ्वी स्वयं कितनी बड़ी है ? इस अपनी देवयानी नीहारिका-मण्डलमें अपना सूर्य—अपना ब्रह्माण्ड ही कितना बड़ा है ? जैसे पृथ्वीमें एक बड़ी गेंद और महाविराट्‌में

इस नीहारिका-मण्डलका मानचित्र कठिनाईसे एक बिन्दु है। तुम कहाँ हो ? कितने बड़े तुम ? किसपर है तुम्हारा गर्व ?

प्रलयंकर नृत्य कर रहे हैं। शत-सहस्र ब्रह्माण्ड कच्चे घड़ोंके समान चूर्ण-विचूर्ण हो रहे हैं उनके भीषण चरणाघातसे और उनकी धूलि भी सत्ता खोती जा रही है। महाप्रलयाग्निकी लपटें और हाहाकार करती सीमाहीन प्रलयाब्धिकी हिलोरें—यह कल्पना—कभी दूर भविष्यका दृश्य है—होगा; किंतु यह विरमित नहीं होता। सतत चल रहा है।

तुम देख रहे हो प्रलयंकरका यह नृत्य ? भय लगता है ? नहीं देख पाते ? अभाग्य तुम्हारा। इसे देख पाते तो ध्वस्त हो जाते तुम्हारे अभिमानके समस्त खोखले स्तम्भ। गल जाते गर्वके तुहिनगिरि। तुम्हारे ममता-मोहके जाल छिन्न हो जाते।

शिवके शरीरपर विभूतिका अङ्गराग लगाता है। तुम्हें शिव चाहिये—कल्याणकामी हो तुम ! तब उसे अलंकृत करनेके लिये विभूति तुम्हारे समीप है ? विभूति प्रस्तुत करनेको उद्यत हो ?

भगवान् शिव सामान्य भस्म नहीं लगाते। वे लगाते हैं चिता-भस्म। इस सम्पूर्ण सृष्टिको चिता बनाकर वे प्रलयंकर नृत्य करते हैं और तब इसकी राख उनके श्रीअङ्गका शृङ्गार बनती है।

ईश्वरकी सृष्टिमें महाप्रलय कब होगी—क्या लाभ इस गणनासे ? तुमने अपना जो संसार बना लिया है, वह बना भी रहे और शिव भी आ जायँ—यह नहीं होगा। उनका—उन कल्याण-स्वरूपका आह्वान करना है तो प्रलयंकरको पुकारो ! अपने इस माया-मोहके संसारकी भस्म तुम नहीं बना सकते तो उन संहारके देवताका आवाहन करो।

'आओ ! आओ—हे प्रलयके अधिदेवता ! देव-देव महादेव, पधारो ! चूर्ण कर दो—खण्ड-खण्ड कर दो पार्थिवकी आसक्ति और इस सड़े-गले बन्धनके व्यर्थ भ्रमको !'

''पधारो महारुद्र ! अपना तृतीय नेत्र पूर्ण उन्मेषित करो। उन्मुक्त करो प्रलयकी महाज्वाला और भस्म कर दो 'अहं-इदं'की समस्त परिच्छिन्न तूलराशिको ! देव ! क्षुद्रताके प्रपञ्चको शुष्क तृणके समान स्वाहा हो जाने दो !''

'महाकाल ! पधारो। आओ ! उद्दाम ताण्डव चपल चरणोंसे धरा-गगन ध्वस्त करते कूदो ! ध्वस्त-त्रस्त होने दो अहंके सम्पूर्ण आधार एवं अम्बारोंको ! तुम्हारे श्रीचरणोंकी धमक सुननेको भङ्गुर प्राण तुम्हें पुकारते हैं—पधारो प्रलयंकर !'

पुकारोगे ? पुकार सको तो परम सौभाग्य तुम्हारा स्वागत करेगा। ध्यान भी कर सको प्रलयंकरकी इस प्रचण्ड नृत्यमुद्राका तो तुम भाग्यवान् !

भय लगता है ? किसका ? किसके विनाशका ? अमृत-पुत्र ! तू तो इन प्रलयंकरका पुत्र है। तुझे भय लगता है ? प्रलयाग्नि तेरे शरीरकी ऊष्मा मात्र है। प्रलय-पयोदधि केवल तेरे चरण क्षालित कर सकते हैं। तू डरता है ?

हम, आप शिवकी संतान हैं—यह आप भूल गये ? पिता प्रलयनृत्य करेंगे तो पुत्र उनकी गोदमें होगा। उनका उद्दाम ताण्डव शिशुको उछालनेका विनोद प्रदान करेगा। प्रलय आपके लिये शिवकी आनन्दक्रीड़ा क्यों नहीं है ?

वनमें अग्नि लगा देते हैं। झाड़-झंखाड़, तृण-कण्टक जल जाते हैं, तब उस भस्ममें बहुत उत्तम अन्न उत्पन्न होता है। विनाशके—प्रलयके पद नवीन सृष्टिकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं।

एक इंजीनियर आये एक कोठीमें। कोठी बहुत पुरानी थी। उसके फर्शमें लगे पत्थर गलने लगे थे। भित्तियोंसे चूना ढेर-सा झड़ता था। छतकी कड़ियाँ कहीं-कहीं टूट गयी थीं। इंजीनियरने उसे इधर-उधर घूमकर देखा और चले गये।

पिछले वर्षोंमें कई बार वे इंजीनियर इस कोठीमें आये थे। कभी कोई कोना और कभी छतका कोई भाग सुधारनेको बता गये थे। उनके सुझाव माने गये थे। पुराने वस्त्रमें पैवन्द लगाने-जैसे वे सुधार थे।

तीन-चार दिनमें मजदूरोंका एक दल आ गया। इंजीनियरने उन्हें भेजा था। मजदूर पिल पड़े और 'अररधम्' कोठी टूट-टूटकर गिरने लगी। इंजीनियर बुरा

था ! इंजीनियरोंका काम ध्वंस है ? नहीं भाई—इंजीनियर-का काम नव-निर्माण है । उसके पास नवीन भवनका मान-चित्र प्रस्तुत होगा । अब इस पुरातन कोठीमें और मरम्मत सम्भव नहीं लगी उसे । यह ध्वंस नवीन भव्य भवनके लिये भूमि प्रशस्त करेगा ।

नवीन सृष्टिके लिये प्रलय अनिवार्य है । जीर्ण-शीर्ण शरीरको लेकर मृत्युका देवता नूतन शिशु-शरीर-प्राप्ति-का पथ बनाता है ।

सृष्टिमें बड़ाँद अनिवार्य है । प्रकृति विकार-धर्मिणी है । जो उत्पन्न होगा—जीर्ण होकर रहेगा । विनाश उसे नवीन बनानेका एक पुनीत प्रयासमात्र है । इसीलिये प्रलयंकर शिव हैं ।

बड़े भयंकर, बड़े उग्र हैं प्रलयके देवता ! अच्छा तो यह कहना होगा कि वे अत्यन्त सदय हैं । जो हाथ आवे, उसीको पकड़कर बैठ जानेकी प्रवृत्ति प्रगतिका पथ अवरुद्ध कर देती है । आप मार्गके प्रत्येक पेड़को पकड़कर बैठ जाते हैं । जो आपको हाथ पकड़कर उठा देता है आगे चलनेके लिये वह आपको निष्ठुर लगता है; किंतु वह दयाधाम··

शैशव आपसे ले न लिया जाता—कुमार हो पाते आप ? कौमार गया और उसने तारुण्यका वरदान दिया । तारुण्य गया तो वार्धक्यने सहनशक्ति दी, समझ दी, सूझ-बूझ दी । अब आप इसे कोसते क्यों हैं ? आप इससे संतुष्ट नहीं हैं तो महादेव आपके लिये पुनः शैशवकी भूमि बनायेंगे ।

यह सब क्या है ? प्रलयंकरकी क्रीड़ा । उनका एक विनोद, और वह भी अपने पुत्रोंको प्रसन्न करनेके लिये । बच्चेको खिलौना दे दिया । वह खिलौना टूटा-फूटा, जीर्ण हुआ तो पटक दिया उठाकर और बचा रोने लगा तो दूसरा नवीन खिलौना उसे पकड़ा दिया ।

आप जरा-जीर्ण शरीर पानेपर असंतुष्ट हैं तो मृत्युका देवता इसे नष्ट कर देता है और आपको दूसरा शिशु-शरीर दे देता है । यह सम्पूर्ण सृष्टि जर्जर हो जाती है तो इसे ध्वस्त कर देता है, जिसमें इस ध्वंसपर स्रष्टा नवीन सृजन कर सके ।

'बाबा ! तू ये घड़े रख या तोड़, किंतु मुझे अपने श्रीचरण देखने दे ! तेरे कर देह-घट बनाते हैं या ब्रह्माण्ड-घट, यह मैं नहीं देखता । इनमें कोई घट मुझे चाहिये नहीं । मुझे चाहिये तेरे करोंकी छाया । तू अपने कर रख मेरे सिरपर !'

'तू प्रलयंकर है ? मैं नहीं देखता कि तेरे पदोंसे लक्ष-लक्ष देह-घट नष्ट होते हैं या ब्रह्माण्ड-घट फटाफट भड़ा-भड़ फूटते हैं । मैं तेरे अरुण-मृदुल श्रीचरणोंको नृत्य करते देखता हूँ । तू मुझे इन चरणोंपर दृष्टि रखनेकी शक्ति दे ।'

'मुझे पता है, रोग और शोक—भूत और प्रेत—तेरे गण हैं । मृत्यु और काल तेरे तुच्छ किंकर हैं । तेरे गण या तेरे सेवक तेरे पुत्रका सम्मान कर सकते हैं । उसे भीत करनेका साहस उनमें नहीं है ।'

'ये तेरे गण ! ये तेरे सेवक केवल घड़ोंसे खेलते हैं । ये घड़े—ये देह, जो तू बनाता-फोड़ता है, ये भी उनसे ही खेलते हैं—उनको ही तोड़ते-फोड़ते हैं । मेरा क्या बनता-बिगड़ता है इससे । ये एक फोड़ें या सौ, कल फोड़ें या आज !'

'प्रलय कभी क्यों ? वह अभी हो जाय । मृत्यु कल होती हो तो आज हो । मैं मृत्युका खिलौना नहीं हूँ कि वह मुझ-से खेले और पटक दे । मैं मृत्युंजयका पुत्र । मैं महाकाल-की संतान, मुझे देखकर भयको भागना चाहिये ।'

'बाबा ! प्रलयंकर ! महाकाल ! आ मैं तेरा पुत्र तुझे पुकारता हूँ । तू आ और यदि मैं कहीं-किसी खिलौनेमें उलझ रहा हूँ तो उठाकर पटक दे उस अभागे खिलौनेको । मुझे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड-घटोंको चूर्ण करते नृत्यरत अपने श्रीचरण देखने दे ।'

जीवन और मृत्युसे छुटकारा चाहिये तो प्रलयंकरको पुकारिये । महाकालका ध्यान कीजिये । देहकी आसक्तिको ध्वंस वे महादेव ही करेंगे । यह मत भूलिये कि देहासक्ति ही सबसे बड़ा बन्धन है ।

प्रेमी जादूगर

(लेखक—श्रीउमाशंकरसिंहजी)
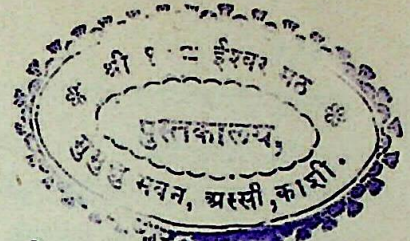
एक विचित्र जादूगर है। सुना है, वह अन्य जादूगरोंसे भिन्न विलक्षण खेल दिखाता है। बड़ा मनोरम, अतीव आकर्षक। और शुल्क क्या लेता है उसका ? बस, प्रेम! रुपये-पैसे तो वह पहचानता ही नहीं। इसीलिये कोई जादू-कम्पनी भी वह नहीं चलाता। वह ढूँढ़-ढूँढ़कर केवल अपने प्रेमियोंको ही जादू दिखाता है। बड़ा प्रेमी है वह; बड़ा सुन्दर है। मोह लेता है अपने प्रेमसे, अपने सौन्दर्यसे।

जी हाँ, उसमें सौन्दर्य है और प्रेम है। यही उसके मन्त्र हैं। इसीसे वह जादूका खेल करता है। सौन्दर्य ऐसा कि उसकी कल्पना भी आप न कर सकेंगे। और प्रेम ? प्रेम तो ऐसा कि विषसे भी दाहक, किंतु अमृत-तुल्य।

विषसे आपको डर लगता है क्या ? डरिये नहीं। इससे आपके प्राणोंको भय नहीं। बहुत हुआ तो आपको उस क्रीड़ा-प्रेमीके प्रेममें उन्मत्त हो नाचना पड़ेगा या सब कुछ रहते हुए भी उसके वियोगमें तड़पना पड़ेगा। किंतु इससे क्या ? यह तो आपके लाभके लिये ही करेगा वह। इससे आप उसे अधिक-से-अधिक चाहेंगे और वह भी आपको अधिकाधिक अपनायेगा।

यह सब जादूका खेल क्यों खेलता है वह ? जानते हैं ? आपको अपनानेके लिये और अपनोंकी सँभाल करनेके लिये। वह हर आदमीको अपनाना चाहता है। इसके लिये उसका सान्त्वनापूर्ण आमन्त्रण भी है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

और उसकी शरण भी बड़ी ही सुखदायिनी है—

सुखी मीन जे नीर अगाधा।
जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

तो क्या, आप भी उसकी शरण जाना चाहते हैं ? बता दूँ ? उसके नाम लिख लीजिये, कागजपर या हृदयपर। बहुतसे नाम हैं उसके। बहुत ही छोटे-छोटे। सभी-के-सभी एकशब्दी। याद करनेकी भी सुविधा। लीजिये, तो नोट कर लीजिये—दो-चार नाम—राम, कृष्ण, हरि, विष्णु, शिव। जी हाँ, यही उसके नाम और यही पूरे पते हैं। चाहे जिस नाम-पतेसे आप उसके पास जा सकते हैं या उसे खुद अपने ही पास बुला सकते हैं।

और हाँ, एक बात याद रक्खें। जादू देखनेकी अभिलाषासे आप उसके पास न जायँ। इससे तो आपको जादूसे प्रेम हो जायगा, उस जादूगरसे नहीं। फिर, जबतक आप उस जादूगरसे प्रेम नहीं करेंगे, तबतक वह आपसे मिलेगा ही नहीं। जादूके प्रेमियोंको वह नहीं मिलता, लेकिन अपने प्रेमियोंको तो वह सदासे दर्शन देता आया है—उनसे बड़े प्रेमसे मिलता आया है, उन्हें रंग-बिरंगे खेल दिखलाता आया है। कभी धन्नाके खेतमें बिना बीज गेहूँ उगाया, तो कभी दुर्वासाके शिष्योंकी बिना भोजन उदर-पूर्ति की। कभी सुदामाकी मँड़ैयाको महल बनाया, तो कभी पत्थर-शिलाको सुन्दरी अहल्या बनाया। उधर प्रह्लादके लिये अग्निको हिम बना दिया, तो इधर मीराँके लिये विषको भी अमृत कर दिया।

जी, तो बड़े ही मनोरम खेल हैं उसके। किंतु देखनेको मिलेंगे ये खेल उसको ही, जो खेलसे प्रेम नहीं करता, उस खिलाड़ीसे ही प्रेम करता है। वह अपने प्रेमियोंको तो प्रेमानुरूप खेल दिखाता ही रहता है।

वह बालक-रूपमें था । माता कौसल्याने उसे पालनेमें सुला दिया और खुद कुलदेवकी पूजामें लग गयी । किंतु यह क्या ? कुलदेवके लिये बनाया गया पकवान तो बैठकर 'राम' उड़ा रहा था । माँने दौड़कर देखा तो उसका राम पालनेमें ही सो रहा था । वह आश्चर्यमें पड़कर सोचने लगी—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥

किंतु यह तो उस जादूगरका साधारण खेल था । इसी तरह माता यशोदाने भी उसे शान्त रखनेके लिये ऊखलसे बाँधना चाहा; पर वह कब शान्त रहा है ? क्रीड़ाके बिना उसे चैन कहाँ ? उसने ऊखलको लुढ़काकर वृक्षोंसे टकरा दिया, जिससे वृक्ष भी धराशायी हो गये और उनमेंसे दो देवता निकल आये !

अपने प्रेमीको कौन नहीं रिझाना चाहता ? सभी चाहते हैं, वह भी चाहता है । एक दिन शृङ्गार-सुसज्जित राधिका भी उसे रिझाने निकली थी । किंतु उस नटवरने सौन्दर्यका कैसा जादू किया ?—भिखारीदास लिखते हैं—

जेहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो
तेहि देखत मोह में आइ गई ।
न चितौनि चलाइ सकी, उनहीं की
चितौनि के घाय अघाइ गई ॥
वृषभानु-लली की दसा सुनो दास जू
देत ठगौरी ठगाइ गई ।
बरसाने चली दधि बेचिबे को
तहँ आपु हि आपु बिकाइ गई ॥

इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जादूगर तो जादूगर ही है । विश्वविमोहन कामदेव भी मात खाता है उसकी सुन्दरतापर । वह बहुरूपिया भी है । सुन्दरताका स्वाँग क्या वह नहीं रच सकता ? अरे, वह क्या-क्या रूप नहीं बना सकता ! वह सब कुछ बना सकता है, सब कुछ बन सकता है । तुलसीका चौकीदार, विद्यापतिका कमकर, नरसीके लिये सेठ और भगवानप्रसादके लिये डिप्टीसाहब बननेमें उसे जरा भी देर नहीं लगती । एक साथ अनेक रूप भी बना सकता है; उससे मिलनेके लिये प्रेमियोंकी भीड़ चाहिये ।

अयोध्याकी जनता प्रेमोन्मत्त होकर उससे मिलनेके लिये दौड़ी, तो उसने सबमें मिलनोत्कण्ठा देखकर एक खेल किया—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिले सबहिं कृपाला ॥
कृपा दृष्टि रघुबीर बिलोकी । किए सकल नर नारि बिसोकी ॥

अपने प्रेमियोंकी भीड़में हर एकसे मिलनेके लिये, हर एक प्रेमीकी प्रेम-पीड़ा शान्त करनेके लिये वह अमितरूपमें प्रकट होकर एक ही साथ सबसे मिल लिया । सबके मनमें एक ही समान प्रेम जो उमड़ रहा था । और उसकी तो प्रतिज्ञा ही ठहरी—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

वह भी सबसे मिलनेके लिये उतावला हो उठा । अतः जितने प्रेमी, उतने वह ।

प्रेमी कब किस जगह पुकार देगा उसे—इसके लिये वह चौकन्ना रहता है, प्रकट होनेके लिये तैयार रहता है । नामदेवजीने जो कुत्तेके पीछे उसकी पुकार लगायी तो कुत्ता भी भगवान् बन गया । पर कुत्ता तो सजीव था, वह तो काठ-पत्थरके खंभेसे भी निकल आता है । और यह भी क्या, वह तो आपके शरीरके वस्त्रसे भी प्रकट हो सकता है । द्रौपदीका चीरहरण हो रहा था । उसने अपने पतियोंको पुकारा, सम्बन्धियोंसे सहायता माँगी, लेकिन उसे सबसे निराशा मिली । अन्तमें उसने करुणानिधान द्वारकाधीशको पुकारा और करुणानिधानका तो यह व्रत ही ठहरा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

करुणासागरने शीघ्र ही जादूका खेल किया । साड़ी-

का ढेर लग गया और दुःशासनकी दस हजार हाथियोंकी ताकतवाली बाँहें पस्त पड़ गयीं, पर न साड़ीका अन्तिम छोर मिला, न चीरहरण हो सका !

तो देखा आपने ? कैसा है वह जादूगर ! वह प्रेमी है, 'प्रेम' ही है वह, प्रेम ही उसका जीवन है। चाहे जिस बहाने, जिस नाते प्रेम चाहिये उसे। आप भी उससे प्रेम करें, वह आपका बन जायगा। बस, मात्र आपका प्रेम पाकर ही वह अपनी जादुई बाँसुरी अपने होठोंपर रख लेगा। फिर तो आपका जीवन ही धन्य कर देगा वह अपने जादूसे; किंतु इसके लिये आप उससे प्रेम कीजिये, कोई नाता जोड़िये। गोस्वामीजीने कितने नाते जोड़े थे—उस प्रेमी जादूगरसे !—

देव—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंजहारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरति-हर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मातु, गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानियै जौ भावै।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै॥

तुम्हारे जीवनकी गहरी जड़ें

(लेखक—राबर्ट एल० स्टीवेन्सन)

भगवान्में विश्वास

मैं विश्वास करता हूँ ऐसे भगवान्में, जो विश्वका सर्वशक्तिमान् स्रष्टा और नियामक है। मैं उस भगवान्में विश्वास नहीं करता, जो आकाशमें एक सिंहासनपर बैठा रहता है; अपितु मैं तो उस भगवान्में विश्वास करता हूँ, जो योग्यता और सामर्थ्यको साथ लेकर प्रत्येक हृदयमें समान रूपसे निवास करता है। मैं उस भगवान्में विश्वास नहीं करता, जो कल्पित किया जाता है; परंतु मुझे विश्वास है कि मनुष्य ऐसे सामर्थ्यसे युक्त बनाया गया है कि वह भगवान्के उस रूपको प्रकट कर सके, जो उसके आत्माका केन्द्रबिन्दु है।

मेरी ऐसे भगवान्में आस्था है, जो हममेंसे प्रत्येकको इस विश्वके शाश्वत गुणोंसे उत्तराधिकार रूपमें प्राप्त है। मेरा विश्वास है कि भगवान् हमारे प्रत्येक चरित्रको जानता है; क्योंकि भगवान् ही वह दिव्य और सनातन सत्ता है, जिसको हम अपने अन्तरतममें निवास करते हुए पाते हैं, अनुभव करते हैं और किसी तरह जान लेते हैं।

स्तवकारका वचन है—'वे टूटे हुए हृदयवालोंका घाव भरते हैं।' इस बातपर मैं विश्वास करता हूँ। मेरा विश्वास है कि ऐसा परमात्मा करुणामय है। वह ऐसा परमात्मा है, जो निर्माण करनेवाला है। वह ऐसा परमात्मा है, जो अपनी सृष्टिके प्रत्येक अङ्गके लिये अच्छे-से-अच्छा करनेके सिवा और कुछ भी करनेमें असमर्थ है।

मैं उन भगवान्में पूर्णरूपसे विश्वास करता हूँ, जो भगवान् सिद्धान्तके पक्के हैं। जो भगवान् सारे प्राणियोंके साथ, सारी जातियोंके साथ तथा सब परिस्थितियोंमें अविकल न्याय और समान दयाका व्यवहार करते हैं। ये भगवान् बुरा देख ही नहीं सकते; क्योंकि भगवान् प्रेमस्वरूप हैं और प्रेम या परिपूर्णता केवल अपने स्वरूपको देखती है और वह केवल परिपूर्णता ही प्रदान कर सकती है, चाहे उसके सामने कोई भी अवस्था या कैसी भी परिस्थिति हो। इसलिये सारी वस्तुएँ निरन्तर अच्छेके लिये ही मिलकर काम करनेकी चेष्टामें रत हैं।

(प्रे०—अनुवादक, श्रीदिलीपकुमार भरतिया)

श्रीकृष्ण-महिमाका स्मरण

[श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सव, श्रीकृष्णाब्द ५०७०, भाद्रपद कृष्ण ८ सोमवार, सं० २०२७ वि०]

(गीतावाटिका, गोरखपुरमें रात्रिको हनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण)

श्रीश्रीकृष्णो जयति जगतां जन्मदाता च पाता
हर्ता चान्ते हरति भजतां यश्च संसारभीतिम्।
राधानाथः सजलजलदश्यामलः पीतवासा
वृन्दारण्ये विहरति सदा सच्चिदानन्दरूपः॥
ज्योतीरूपं परमपुरुषं निर्गुणं नित्यमेकं
नित्यानन्दं निखिलजगतामीश्वरं विश्वबीजम्।
गोलोकेशं द्विभुजमुरलीधारिणं राधिकेशं
वन्दे वृन्दारकहरिहरब्रह्मवन्द्याङ्घ्रिपादम्॥
नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः॥
बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे।
राधामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः॥

आज पवित्रतम श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सव है। भाद्रपदके अँधियारे कृष्णपक्षके मध्यकी अँधेरी अष्टमीको, अँधेरी मध्यरात्रिके घोर तमोऽभिभूत कालमें, तमोमय काले कर्म करनेवाले क्रूरहृदय कंसके अन्धकारपूर्ण कारागारमें अद्वितीय परमोज्ज्वलतम परमेश्वर श्रीकृष्णका कृष्णरूपमें आविर्भाव हुआ था। उनके प्रकट होनेके साथ ही कारागारकी उस अन्धकारमयी कालकोठरीमें दिव्य प्रकाश छा गया था। साथ ही विश्वके समस्त सत्पुरुषोंके हृदय, जो तमोमयी निराशासे आच्छादित थे, अकस्मात् अलौकिक प्रकाशसे सुदीप्त हो उठे तथा तमाम प्रकृतिमें उल्लासकी उज्ज्वल तरङ्गें -नाचने लगी थीं। वसुदेव-देवकी, जो मन, प्राण, बुद्धि, आत्माकी सारी स्थूल-सूक्ष्म शक्तियोंसे शून्य-से होकर क्रूर कंसके कारागारमें सर्वथा परतन्त्र, सब ओरसे निराश, विषण्णहृदय हो शृङ्खला-बद्ध पड़े थे और सब प्रकारसे परित्राण करनेवाली एकमात्र दिव्य परम प्रकाशस्वरूपा महान् शक्तिको अन्तस्तलकी करुण ध्वनिसे पुकार रहे थे एवं उसकी एकान्त आकुल प्रतीक्षा कर रहे थे, आज इस चिरभिलषित अद्भुत प्रकाशके परमोदयसे परमाह्लादित हो गये। वास्तवमें जब व्यष्टि या समष्टि मानव इस प्रकार शक्तिशून्य हो, सब ओरसे सर्वथा निराश होकर अनन्यभावसे उस एकमात्र त्राणकर्ता परमाश्रयको पुकारता है, तभी वे सहज-सुहृद्, सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर भगवान् स्वयं प्रकट होकर उसका परित्राण करते हैं। उस समय असुरभाराक्रान्त धरादेवीके सभी साधु पुरुष पीड़ित थे, इसीसे सर्वत्राणकारी भगवान्‌का दिव्य प्राकट्य हुआ था।

'यह दिव्य प्राकट्य क्यों होता है ?'

'साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश तथा धर्मकी भलीभाँति स्थापनाके लिये'—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय .... ॥

'कब होता है ?'

'जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है'—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः,
अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति।

'प्राकट्य किनका होता है ?'

'जो अजन्मा हैं, अविनाशी हैं तथा चराचर प्राणियोंके ईश्वर हैं, उनका'—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

'वे कैसे प्रकट होते हैं ?'

'अपनी प्रकृति—निज स्वभावको अपने अधीन करके—'स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय'। वे भगवान् स्वरूपभूता मायासे—'आत्ममायया' अपनी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र इच्छासे प्रकट होते हैं।—'

उनका यह प्राकट्य 'प्रकृतिस्थ जीवोंकी भाँति कर्मपरवश नहीं होता, न उनका कोई कर्म ही किसी प्राकृतिक संस्कार-विशेषकी प्रेरणासे होता है। उनका जन्म (प्राकट्य) और उनके सभी कर्म दिव्य भगवत्स्वरूप ही होते हैं। यहाँतक कि उनके इन 'दिव्य जन्म-कर्मोंके रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाले मनुष्यका जन्म होना बंद हो जाता है। वह शरीर त्यागकर पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता, भगवान्‌को ही प्राप्त होता है।' इसकी घोषणा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने इन दिव्य शब्दोंमें की है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४। ९)

'जिनका परित्राण किया जाता है, वे साधु कौन हैं ?'

(क) वर्णाश्रमधर्म तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सामान्य मानवधर्मोंका पालन करनेवाले, संयम-सदाचारपरायण, सर्वभूतहितमें रत, वैराग्य-ज्ञानयुक्त दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष।

(ख) भगवान्के प्रत्यक्ष मङ्गल-दर्शनके लिये व्यथित, तपश्चर्या करनेवाले तथा भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिके श्रवण-कीर्तन-स्मरणमें लगे हुए भगवद्भक्त।

(ग) प्रेम-लीलामय परम प्रेमास्पद भगवान्के पवित्र प्रेम-लीलारस-आस्वादनके लिये परमोत्सुक भक्ति-मुक्ति-त्यागी परम प्रेमीजन।

'दुष्कृत कौन है ?'

(क) साधुपुरुषोंपर अत्याचार करनेवाले, हिंसा, असत्य, चोरी, छल, व्यभिचार आदि दुर्विचार तथा दुष्कर्मोंमें लगे हुए, शास्त्रविरुद्ध अन्यायाचरण करनेवाले, निषिद्ध भोगोंमें आसक्त आसुरी सम्पत्तिवान् उच्छृङ्खल मनुष्य।

(ख) भगवान्का विरोध तथा खण्डन करनेवाले असदाचारी, यथेच्छाचारी नास्तिक व्यक्ति।

(ग) विशुद्ध प्रेमके बाधक उच्च-नीच भोग-कामनाओंके भाव तथा उनके अधिष्ठाता पुरुषविशेष।

ऋषिस्वभावसम्पन्न, सत्त्वगुण-विशिष्ट, सदाचारी सत्पुरुषोंका तथा उनके पवित्र कार्योंका अत्यन्त ह्रास हो जाना **'धर्मकी ग्लानि'** है और दुष्कृतों—दुराचारी लोगोंके द्वारा दुराचार, अनाचार, अत्याचार, असदाचार, भ्रष्टाचार और व्यभिचार आदिका बढ़ जाना ही **'अधर्मका अभ्युत्थान'** है।

इसी अधर्मके नाश, साधुपरित्राण, दुष्कृतिविनाश और धर्मसंस्थापनके लिये भगवान्का प्राकट्य होता है। परंतु साधारणतया सामान्य अधर्मनाश, धर्मसंस्थापन और साधुत्राण तथा दुष्कृत-विनाशके लिये प्रायः भगवान्का अवतार नहीं होता। ये कार्य तो निरन्तर भगवान्की सृष्टि, पालन, संहार करनेवाली शक्तिके द्वारा होते ही रहते हैं। भगवान्का अवतार तो विशेष स्थितिमें होता है। ऐसे साधुओंके लिये, जिनका भगवान्के साक्षात् दर्शन हुए विना अदर्शनजनित भयानक दुःख दूर नहीं हो सकता और ऐसे असुर-राक्षसोंके लिये, जिनका भगवान्के अपने हाथ मारा जाना सुनिश्चित या अनिवार्य होता है, भगवान्को अवतार ग्रहण करना पड़ता है। यों भगवान्के दर्शनकी प्रबल इच्छाजनित दुःखसे दुखी भक्तोंको दर्शन देकर उनका परित्राण करना और हिरण्यकशिपु, रावण आदि शाप या वरदान-प्राप्त दुष्कृतोंका अपने हाथों वध करना—भगवान्के अवतारद्वारा ही सिद्ध हो सकता है। पर इन कार्योंके लिये भी भगवान्के पूर्णावतार या स्वयं भगवान्के प्रकट होनेकी आवश्यकता नहीं होती। स्वयं भगवान्का प्राकट्य तो होता है भुक्ति-मुक्तित्यागी, अनन्य उत्कण्ठारूप विरहतापसे परम संतप्त प्रेमी भक्तोंको दर्शन देकर तथा परम मधुर दिव्य लीलां-प्रमोद-रसका आस्वादन करवाकर उनका उस दुःखसे परित्राण करनेके तथा लौकिक भोग-काम-धर्मके स्थानपर पवित्र प्रेमधर्मकी संस्थापनाके लिये; विशिष्ट असुरवध, विशिष्ट साधु-परित्राण तथा साधारण धर्म-संस्थापनके लिये नहीं।

'स्वयं भगवान्'के प्राकट्यकालमें भगवान्के अंश-कला आदि अवतारोंका उन्हींमें समावेश रहता है, अतएव वे सब अपने विभिन्न ऐश्वर्यप्रधान लीला-कार्य भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूपसे ही करते रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—'एते चांशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' अतएव उनके द्वारा सभी अवतारोंके लीला-कार्य सहजरूपमें हो सकते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण'के अनुसार तो भगवान् श्रीकृष्णके गोलोकसे भूमिपर अवतरण करनेके समय भगवान् महाविष्णु, विष्णु, नारायण ऋषि आदि सभी आकर उन राधिकेश्वर-विग्रहमें विलीन हो जाते हैं और यहाँ उन्हींके द्वारा अपना लीला-कार्य करते हैं। वैसे तो 'अंशी' भगवान् श्रीकृष्णमें सभी 'अंशों'का सदा-सर्वदा ही समावेश रहता है। इस जगत्में जब स्वयं अंशी 'स्वयंरूप' श्रीकृष्णका प्राकट्य होता है, तब उन-उन अंश-कलारूप अवतारोंके कार्योंकी उनमें अभिव्यक्ति होती है और जब विभिन्न कालमें विभिन्न लीला-कार्यके लिये उन-उन अंश-कला-अवतारोंका प्राकट्य होता है, तब वे स्वतन्त्ररूपसे अपना-अपना लीला-कार्य सम्पन्न करते हैं। स्वरूपतः सभी अवतार नित्य शाश्वत, हानोपादानरहित और प्रकृतिसे पर एक ही परमात्म-स्वरूप हैं। भगवान्के किसी अवतार-स्वरूपमें भगवत्ताकी या भागवती-शक्तिकी न्यूनता नहीं है। भगवान् सदा, सर्वत्र, सर्वथा परिपूर्ण हैं। अवतारोंमें शक्तिकी न्यूनाधिक अभिव्यक्ति ही 'अंशी' और 'अंश' भावमें कारण है। सभी अवतारोंमें पूर्ण शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती। जिस अवतार-लीलामें जितनी शक्तिका प्रकाश

प्रयोजनीय होता है, उतना ही प्रकाश होता है। जैसे अग्निमें समस्त वस्तुओंके दाहकी शक्ति है, पर जहाँ उसके सामने छोटा-सा काष्ठखण्ड होता है, वहाँ वह उसीको जलाती है; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अग्निकी शक्ति उतने ही काष्ठको जलानेमें सीमित है। इसी प्रकार भगवान्‌के अवतारोंको देखना चाहिये।

लीलाभेदसे भगवान्‌के अवतार तीन प्रकारके होते हैं—

(१) पुरुषावतार, (२) गुणावतार और (३) लीलावतार।

(१) पुरुषावतारके तीन भेद हैं—

(क) प्रकृतिका ईक्षण करनेवाले कारणार्णवशायी महाविष्णु। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥
(१।३।१)

''भगवान्‌ने आदिमें लोकसृष्टिके निर्माणकी इच्छा की और उन्होंने महत्तत्त्व आदिसे निष्पन्न 'पुरुष' रूप ग्रहण किया। उसमें दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भूत—ये सोलह कलाएँ थीं।'' भगवान्‌का चतुर्व्यूह है—श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। उपर्युक्त श्लोकमें 'भगवान्' शब्द 'श्रीवासुदेव'के लिये प्रयुक्त है और आदिदेव नारायण भी यही हैं।

आद्य पुरुषावतार उपर्युक्त चतुर्व्यूहमें 'श्रीसंकर्षण' हैं। 'कारणार्णवशायी' तथा 'महाविष्णु' इन्हींके नामान्तर हैं। यही 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' रूपमें पुरुषसूक्तमें वर्णित हैं। आद्य पुरुषावतार भगवान् ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करते हैं। (ख) द्वितीय पुरुषावतार चतुर्व्यूहमें 'श्रीप्रद्युम्न' हैं। यही गर्भोदशायी हैं। इन्हींके नाभिकमलमें हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव होता है। (ग) तृतीय पुरुषावतार 'श्रीअनिरुद्ध' हैं, जो प्रादेशमात्र विग्रहसे व्यष्टि जीवमात्रके अन्तर्यामी हैं।

(२) गुणावतार भी तीन हैं—(क) विश्वके सृष्टिकर्ता श्रीब्रह्मा, (ख) विश्वके पालनकर्ता क्षीरोदशायी श्रीविष्णु और (ग) विश्वके संहारकर्ता श्रीमहेश्वर। इनका आविर्भाव गर्भोदशायी द्वितीय पुरुषावतार श्रीप्रद्युम्नसे है। एक ही गर्भोदशायी परमात्मा विश्वकी स्थिति, पालन और संहारके लिये (सत्त्व, रज, तम) तीन गुणोंसे युक्त हैं; परंतु पृथक्-पृथक् अधिष्ठाताके रूपमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर संज्ञाको धारण करते हैं।

(३) लीलावतार—''जिस कार्यमें किसी भी प्रकारका आयास-प्रयास न हो, जो सब प्रकार अपनी स्वतन्त्र इच्छाके अधीन हो और अनन्त प्रकारकी विचित्रताओंसे परिपूर्ण नित्य-नव विलास और उल्लास-तरङ्गोंसे युक्त हो, उस कार्यको 'लीला' कहते हैं।'' इस प्रकारकी लीलाके लिये भगवान्‌के जो अवतार होते हैं, उन्हें 'लीलावतार' कहा जाता है। ऐसे लीलावतार २५ हैं। इन्हें 'कल्पावतार' भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त चौदह 'मन्वन्तरावतार' और चार 'यज्ञावतार' हैं। यों कुल मिलाकर ४३ हैं। भगवान्‌के उपर्युक्त सभी अवतार (१) 'आवेश', (२) 'प्राभव', (३) 'वैभव' और (४) 'परावस्थ' रूपसे विभक्त हैं।

'परावस्थ' अवतारोंकी अपेक्षा 'वैभवावतारों'में शक्तिकी अभिव्यक्ति कम होती है और 'प्राभव' अवतारोंमें 'वैभवावतारों'की अपेक्षा न्यूनता होती है। 'प्राभव' अवतारोंके दो भेद हैं तथा वैभवावतार २१ माने गये हैं।

सर्वोपरि 'परावस्थ' अवतार तीन हैं—श्रीनृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण। ये षड्गुणपरिपूर्ण हैं—

'नृसिंहरामकृष्णेषु षाड्गुण्यं परिपूरितम्।'

—और समान 'परावस्थ' के हैं। यही तीनों मुख्य अवतार हैं। अतएव इनमें न्यूनाधिक तारतम्यकी कल्पना करना एक प्रकारसे बड़ा अपराध है। वास्तवमें लीलावतारोंका तत्त्व, महत्त्व तथा रहस्य अप्रमेय और अचिन्त्य है। लीलाकी अभिव्यक्तिके भेदसे इनके मङ्गलमय भेदकी लीला गायी जाती है। भगवान् श्रीनृसिंहमें अधिकांशमें केवल 'ऐश्वर्य'का प्रकाश है, भगवान् श्रीरामचन्द्रमें माधुर्यके साथ ऐश्वर्यका 'विशेष' प्रकाश है और भगवान् श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य और माधुर्य—दोनों ही परिपूर्णतमरूपमें प्रकाशित हैं। स्वयंरूप भगवान् होनेसे श्रीकृष्ण 'अवतारी' और 'अवतार' दोनों हैं। ये ही 'सर्वाश्रय-आश्रय' हैं। ये साक्षात् परब्रह्म, परात्पर, पुरुषोत्तम, सर्वकर्त्ता, अप्रमेय, आनन्दस्वरूप, अप्राकृत दिव्य-शरीरी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वातीत, अनन्त कल्याण-गुणगणस्वरूप, नित्य निर्गुण, अंश-कलापूर्ण, परिपूर्णतम-स्वरूप, सर्वोद्धार-प्रयत्नात्मा, दोष-कल्पनाशून्य तथा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। साथ ही ये दीनबन्धु, विशुद्ध

सत्त्व, पुण्यमय, प्रेममय, दयामय, आप्तकाम, कर्मयोगी, असुरहन्ता, धर्मात्मा, वेदज्ञ, नीतिज्ञ, लोकहितैषी, न्यायशील, क्षमाशील, निरपेक्ष, मित्रमित्र, सुहृद्, ब्रह्मण्य, वदान्य, उदार शास्ता, अत्याचारनाशक, अहंता-ममता-रहित, तपस्वी, शरणागतवत्सल एवं शक्तिमान् हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी एक विलक्षण विशेषता यह है कि ये आदर्श मानव भी हैं। प्राकट्यके समयसे ही इनकी परमाश्चर्यमयी भगवत्ताका प्रकाश हो गया था। उस समयके व्यास-नारद-सरीखे महर्षि-देवर्षि, मुनि मार्कण्डेय-कश्यप-परशुराम-सदृश ऋषि-मुनि-प्रतापी, भीष्मपितामह-जैसे अलौकिक ब्रह्मक्षत्र-शक्तिसम्पन्न ज्ञानी तथा धर्मज्ञ, विदुर-जैसे साधुस्वभाव नीतिज्ञ, युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा, अर्जुन-सहदेव-जैसे विवेकी शूरवीर, कुन्ती-गान्धारी तथा द्रौपदी-जैसी सन्नारियाँ—सभी भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् परमात्मा परमेश्वर परब्रह्म भगवान् मानते थे और उनके श्रीचरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेमें गौरव, पुण्य तथा सौभाग्यका अनुभव करते थे। महाभारत और श्रीमद्भागवतमें ऐसे असंख्य प्रसङ्ग हैं। यहाँ कुछ चुने हुए प्रसङ्गोंके वाक्य दिये जाते हैं—

भीष्मपितामह—

(१)

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, परशुराम, शुक्राचार्य, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन, अकृतव्रण आदि ऋषियों, वेदवादी विद्वान् ब्राह्मणों, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्मपितामह, धृतराष्ट्र, विदुर, वसुदेव, द्रुपद, अश्वत्थामा, द्रुम, भीष्मक, शल्य तथा कर्ण आदि वयोवृद्धों तथा शूरवीरोंकी उपस्थितिमें पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजासे असंतुष्ट तथा क्षुब्ध शिशुपालके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए पितामह भीष्म कहते हैं—

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः॥

(महाभारत, सभापर्व ३८। ९)

'महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है; ये तो तीनों लोकोंके पूजनीय हैं' ॥ ९ ॥

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम्॥
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम्॥
गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः॥
वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते॥
ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः॥

(१४-१५; १७-१८; २०, २२)

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः॥
बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥

(२३, २४, २५)

'चेदिराज! हमलोग किसी कामनासे, अपना सम्बन्धी मानकर अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं। हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े संत-महात्माओंने इनकी पूजा की है। श्रीकृष्णके गुणोंको ही दृष्टिमें रखते हुए हमने वयोवृद्ध पुरुषोंका उल्लङ्घन करके इनको ही परम पूजनीय माना है। ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य है, जो बलमें सबसे अधिक हो। वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर, जो अवस्थामें बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है। श्रीकृष्णके परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं। दान, दक्षता, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि—ये सभी सद्गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं। श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र सब कुछ हैं; इसीलिये हमने इन अच्युतकी अग्रपूजा की है ॥ १४-१५; १७-१८; २०; २२ ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्हींके लिये प्रकट हुआ है। ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं, अतः ये भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं। महत्तत्त्व, अहंकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—ये चार प्रकारके प्राणी सभी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं' ॥ २३, २४, २५ ॥

(२)

इसी प्रसङ्गमें युधिष्ठिरके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन करते हुए भीष्मपितामह कहते हैं—

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः।
पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः॥
सहस्रशीर्षा पुरुषो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः।
सहस्राक्षः सहस्रास्यः सहस्रचरणो विभुः।
सहस्रबाहुः साहस्रो देवो नामसहस्रवान्॥

'ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त स्वरूप धारण करके स्थित हैं। पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे। ये ही स्वयम्भू एवं सम्पूर्ण जगत्के प्रपितामह हैं। इनके सहस्रों मस्तक हैं। ये ही पुरुष, ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन परमात्मा हैं। इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मुख और सहस्रों चरण हैं। ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों भुजाओं, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं।'

सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः।
अनेकवर्णो देवादिरव्यक्ताद् वै परः स्थितः॥
सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः।
स लोकानां हितार्थाय क्षीरोदे वसति प्रभुः॥
ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः।
ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः॥
अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः।
नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः॥
एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर।
ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम्॥
बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः।
प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान्॥

'इनके मस्तक सहस्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं। ये महान् तेजस्वी देवता हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है। इनके अनेक वर्ण हैं। ये देवताओंके भी आदिकारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघनस्वरूपमें स्थित) हैं। देवाधिदेव भगवान् नारायण चतुर्मुख भगवान् (के रूपमें ये ही) ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं। ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं। जो अव्यक्त होते हुए व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, सृष्टि और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है। युधिष्ठिर! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायणरूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी सृष्टि की है। ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और लीलावश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं। इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं। मैं उन सबका वर्णन करता हूँ।'

तदनन्तर वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि अवतारोंकी कथा संक्षेपमें कहकर अन्तमें बतलाते हैं—

वासुदेव इति ख्यातो लोकानां हितकृत् सदा।
वृष्णीनां च कुले जातो भूमेः प्रियचिकीर्षया॥
स नृणामभयं दाता मधुहेति स विश्रुतः।
शकटार्जुनरामाणां किल स्थानान्यसूदयत्॥
कंसादीन् निजघानाजौ दैत्यान् मानुषविग्रहान्।
अयं लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः॥

''वासुदेव'के नामसे इनकी प्रसिद्धि है। ये सदा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं। भूदेवीका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे इन्होंने वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण किया है। ये ही मनुष्योंको अभयदान करनेवाले हैं। इन्हींकी 'मधुसूदन' नामसे प्रसिद्धि है। इन्होंने ही शकटासुर, यमलार्जुन और पूतनाके मर्मस्थानोंमें आघात करके उनका संहार किया है। मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए कंस आदि दैत्योंको युद्धमें मार गिराया। परमात्माका यह अवतार भी लोकहितके लिये ही हुआ है।''

(३)

(भीष्मपर्व, अ० ५९)

महाभारत-युद्धके तीसरे दिन भीष्मपितामहने घोर

संहार आरम्भ कर दिया। पाण्डवपक्षमें हाहाकार मच गया। तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भीष्मके संहारकी इच्छा की और सुदर्शनचक्रका स्मरण किया। स्मरण करते ही सुदर्शन हाथमें आ गया। भगवान् रथसे उतर पड़े और बड़े वेगसे चक्र घुमाते हुए भीष्मकी ओर झपटे। उनके भयानक पदाघातसे पृथ्वी हिलने लगी और दिशाएँ काँप उठीं— 'संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम्।' मानो समस्त जगत्का संहार करनेको उद्यत उठी हुई प्रलयाग्निके समान भगवान्को चक्र हाथमें लिये वेगसे आते देख, तनिक भी भय या घबराहटका अनुभव न करते हुए 'इच्छामृत्यु' परम ज्ञानी श्रीभीष्म अपने धनुषको खींचते हुए अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन करते हुए बोले—

> एह्येहि देवेश जगन्निवास
> नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे।
> प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
> रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ॥ ९७ ॥
> त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
> श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके।
> सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
> लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात् ॥ ९८ ॥

'आइये, आइये, देवेश्वर! जगन्निवास! आपको नमस्कार है। हाथमें चक्र धारण किये हुए माधव! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये। श्रीकृष्ण! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा जाऊँगा तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा। अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी।'

उसी क्षण अर्जुन पीछेसे दौड़कर भगवान्के चरणोंको पकड़कर उन्हें लौटा ले गये।

(४)

(भीष्मपर्व, अ० १०६)

इसी प्रकार नवें दिन पुनः भीष्मजीके द्वारा पाण्डव-सेनामें प्रलयका-सा दृश्य उपस्थित देखकर भगवान् श्रीकृष्ण हाथमें केवल चाबुक लिये बारंबार सिंहनाद करते हुए भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े। आज भी भीष्मने कमलनयन श्रीकृष्णको आते देख तनिक भी भयभीत न हो, अपने विशाल धनुषको खींचते हुए व्यग्रताशून्य मनसे भगवान् गोविन्दको सम्बोधित करके कहा—

> उवाच चैव गोविन्दमसम्भ्रान्तेन चेतसा।
> एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते ॥ ६४ ॥
> मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे।
> त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ ॥ ६५ ॥
> श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः।
> सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे ॥ ६६ ॥
> प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ ॥ ६६½ ॥

'आइये! आइये! कमलनयन! देवदेव! आपको नमस्कार है। सात्वतशिरोमणे! इस महासमरमें आज मुझे मार गिराइये। देव! पापरहित श्रीकृष्ण! आपके द्वारा संग्राममें मारे जानेपर संसारमें सब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा। गोविन्द! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया। अनघ! मैं आपका दास हूँ। आप अपने इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिये।'

(५)

पितामह भीष्म दुर्योधनको श्रीकृष्णकी महिमा समझाते हुए कहते हैं—

(भीष्मपर्व, अ० ६६)

> एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम्।
> वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम् ॥ २६ ॥
> रामस्य जामदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः।
> व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ ॥ २७ ॥
> एतमर्थं च विज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम्।
> वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम् ॥ २८ ॥
> (जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम्।)
> यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता।
> कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः ॥ २९ ॥
> यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः।
> योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः ॥ ३४ ॥
> राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः।
> यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३५ ॥

'तात! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान्

वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे । उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं । भरतश्रेष्ठ ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास तथा नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है । भरतकुलभूषण ! इस विषयको सुन और समझकर मैं वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी, प्रभु, परमात्मा, लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ । सम्पूर्ण जगत्के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं ?' ॥ २६—२९ ॥

'ये चराचरगुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं । ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं । सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं । राजन् ! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं । जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है' ॥ ३४-३५ ॥

(भीष्मपर्व, अ० ६७)

अग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत् ।
तस्मान्नारायणो जज्ञे देवदेवः सनातनः ॥ ११ ॥
नाभौ पद्मं बभूवास्य सर्वलोकस्य सम्भवात् ।
तस्मात् पितामहो जातस्तस्माज्जातास्त्विमाः प्रजाः ॥ १२ ॥
केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः ।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप ॥ २१ ॥
एवमेनं विजानीहि आचार्यं पितरं गुरुम् ।
कृष्णो यस्य प्रसीदेत लोकास्तेनाक्षया जिताः ॥ २२ ॥
यश्चैवैनं भयस्थाने केशवं शरणं व्रजेत् ।
सदा नरः पठंश्चेदं स्वस्तिमान् स सुखी भवेत् ॥ २३ ॥
ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः ।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥ २४ ॥
स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत ।
सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम् ।
प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम् ॥ २५ ॥

'इन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोंके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया । उनसे सनातन देवाधिदेव नारायणका प्रादुर्भाव हुआ । नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ । सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीसे ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं' ॥ ११-१२ ॥

''नरेश्वर ! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृष्ण परम तेज हैं । मुनिजन इन्हें 'हृषीकेश' कहते हैं । इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पिता और गुरु समझो । भगवान् श्रीकृष्ण जिनके ऊपर प्रसन्न हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है । जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सुखी एवं कल्याणका भागी होता है । जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते; भगवान् जनार्दन उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं । भरतवंशी नरेश ! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी, सर्वसमर्थ, जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है'' ॥ २१—२५ ॥

अर्जुन—

(१)

वनमें पाण्डवोंसे मिलनेपर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—

(वनपर्व, अ० १२)

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव ।
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः ॥ १७ ॥

'केशव ! आप क्षेत्रज्ञ (सबके आत्मा), समस्त भूतोंके आदि और अन्त, तपस्याके अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष हैं' ॥ १७ ॥

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप ।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः ।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ॥२१-२२॥

'परंतप ! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरिरूपमें प्रकट हुए । ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ, चराचर गुरु, सृष्टिकर्ता और अजन्मा आप ही हैं' ॥ २१-२२ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन ।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजुः ॥ ३५ ॥

'मधुसूदन ! वास्तवमें आपमें न तो क्रोध है, न मात्सर्य है, न असत्य है, न निर्दयता ही है । दाशार्ह ! फिर आपमें कठोरता तो हो ही कैसे सकती है ?' ॥ ३५ ॥

(२)

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

(भीष्मपर्व, गीता अ० १०)

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥
(१२—१५)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। देवर्षि नारद, असित, देवलऋषि, महर्षि व्यास भी ऐसे ही कहते हैं। स्वयं आप भी मेरे प्रति यही कहते हैं। केशव ! मेरे प्रति आप जो कुछ भी कहते हैं, उस सबको मैं सत्य मानता हूँ। भगवन् ! आपके स्वरूपको न दानव जानते हैं, न देवता ही। भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ! पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेको जानते हैं' ॥ १२–१५ ॥

द्रौपदी—

वनमें भगवान् श्रीकृष्णसे द्रौपदी कहने लगी—

(वनपर्व, अ० १२)

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन ।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत् ॥५१॥
ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम ।
सत्याद् यज्ञोऽसि सम्भूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत् ॥५२॥
साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥५३॥
ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः ।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव ॥५४॥
द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो ।
जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥५५॥
लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥५८॥
मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥५९॥

'दुर्धर्ष मधुसूदन ! आप ही विष्णु हैं, आप ही यज्ञ हैं, आप ही यजमान हैं, आप ही यजन करने योग्य श्रीहरि हैं, जैसा कि जमदग्निनन्दन श्रीपरशुरामजीका कथन है। पुरुषोत्तम ! महर्षिगण आपको क्षमा और सत्यका स्वरूप कहते हैं। सत्यसे उत्पन्न यज्ञ भी आप ही हैं। यह श्रीकश्यपजीका कहना है। भूतभावन ! भूतेश्वर ! आप साध्य देवताओं तथा कल्याणकारी रुद्रोंके अधीश्वर हैं, नारदजीने आपके सम्बन्धमें यह कहा है। नरश्रेष्ठ ! जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, वैसे ही आप ब्रह्मा, शंकर तथा इन्द्र आदि देवताओंके साथ बार-बार खेलते रहते हैं। प्रभो ! स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और पृथ्वी आपके चरणोंसे व्याप्त है। ये सब लोक आपके उदरस्वरूप हैं। आप सनातन पुरुष हैं। लोक, लोकपाल, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा तथा सूर्य आपमें प्रतिष्ठित हैं। महाबाहो ! पृथ्वीके प्राणियोंकी मृत्युपरवशता, देवताओंकी अमरता तथा समस्त जगत्के सारे कार्य सब कुछ आपमें ही प्रतिष्ठित हैं ॥ ५१–५५; ५८-५९ ॥

मार्कण्डेय—

वनमें मुनि मार्कण्डेयजी युधिष्ठिरसे कहते हैं—

(वनपर्व, अ० १८९)

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः ॥ ५२ ॥
अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम् ।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम ॥ ५३ ॥
स एष कृष्णो वार्ष्णेय पुराणपुरुषो विभुः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ॥ ५४ ॥
एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः ।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः ॥ ५५ ॥
दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता ।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ॥ ५६ ॥
सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः ।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ॥ ५७ ॥

'नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! पुरातन प्रलयके समय मुझे जिन

पद्मदललोचन देव भगवान् बालमुकुन्दका दर्शन हुआ था, तुम्हारे सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं। कुन्तीनन्दन! इन्हींके वरदानसे मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति भूलती नहीं है। मेरी दीर्घकालीन आयु और स्वच्छन्द मृत्यु भी इन्हींकी कृपाका प्रसाद है। ये वृष्णिकुलभूषण महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापक, अचिन्त्यस्वरूप, पुराणपुरुष श्रीहरि हैं, जिन्होंने पहले बालरूपमें मुझे दर्शन दिये थे। वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते दीख रहे हैं। श्रीवत्स जिनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ाता है, ये भगवान् गोविन्द हो इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियोंके भी पति हैं। इन आदिदेवमय, विजयशील, पीताम्बरधारी परमपुरुष, वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णको देखकर मुझे उस पुरातन घटनाकी स्मृति हो आयी है। कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो! ये माधव ही सम्पूर्ण प्राणियोंके पिता और माता हैं, ये ही सबको शरण देनेवाले हैं। अतः तुम सब लोग इन्हींकी शरण ग्रहण करो' ॥ ५२–५७ ॥

संजय—

(१)

श्रीकृष्ण-तत्त्वके ज्ञाता भक्त संजय राजा धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं—

(उद्योगपर्व, अध्याय ६८)

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥ ७ ॥
यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ ९ ॥
कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥१२॥
कालस्य च हि मृत्योश्च जंगमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१३॥
ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ॥१४॥
तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ॥१५॥

'एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बलकी दृष्टिसे वे भगवान् जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे' ॥ ७ ॥

'जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है' ॥ ९ ॥

'ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं। मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं। महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्के स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं। भगवान् केशव अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल इन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे इनकी मायासे मोहित नहीं होते हैं' ॥ १२–१५ ॥

(२)

राजा धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजय श्रीकृष्णके कुछ नामोंका रहस्य बतला रहे हैं—

(उद्योगपर्व, अध्याय ७०)

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥ ५ ॥
पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम्।
तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥ ६ ॥
यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते।
सत्त्वतः सात्त्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः ॥ ७ ॥
न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित्।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः ॥ ८ ॥
हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥ ९ ॥

''कृष्' धातु 'सत्ता' अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द 'आनन्द' अर्थका बोध कराता है; इन दोनों भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं। नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धामका नाम 'पुण्डरीक' है। उसमें स्थित होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं। (अथवा 'पुण्डरीक'—कमलके समान उनके 'अक्षि'—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम 'पुण्डरीकाक्ष' है।) दस्युजनोंको त्रास (अर्दन या पीड़ा) देनेके कारण उनको

'जनार्दन' कहते हैं। वे सत्यसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे ही अलग होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्वत' है। 'आर्ष' कहते हैं वेदको। उससे भासित होनेके कारण भगवान्‌का एक नाम 'आर्षभ' है। आर्षभके योगसे ही ये 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं। (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण—नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'वृषभेक्षण' नामकी सिद्धि होती है।) शत्रुसेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयंप्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्ट रूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको 'उदर' कहा गया है और 'दम' (इन्द्रियसंयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम 'दाम' है। इस प्रकार 'दाम' और 'उदर' इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं। वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण 'हृषीक' हैं और सुख-ऐश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इस पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है" ॥ ५—९ ॥

अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥
पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ॥ ११ ॥
सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते।
सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥
सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः।
विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ॥ १३ ॥
शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम्।
अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः ॥ १४ ॥

"श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः ('अधो न क्षीयते' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं। वे नरों (जीवात्माओं) के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं। वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिये 'पुरुष' हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होने कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं, इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं। श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य इनमें प्रतिष्ठित है। वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं; अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है। विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोंको आक्रान्त) करनेके कारण वे (भगवान् 'विष्णु' कहलाते हैं। वे सबपर विजय पानेसे 'जिष्णु', शाश्वत (नित्य) होनेसे 'अनन्त' तथा गौओं (इन्द्रियों) के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण (गां विन्दति) इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोविन्द' कहलाते हैं। वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं" ॥ १०—१४ ॥

धृतराष्ट्र—

संजयके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा सुनकर उससे प्रभावित हो धृतराष्ट्र स्तवन करने लगे—

(उद्योगपर्व, अ० ७१)

ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम्।
अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम ॥
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराणमनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं परं परेशं शरणं प्रपद्ये ॥
त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं देवासुराणामथ नागरक्षसाम्।
नराधिपानां विदुषां प्रधानमिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ॥

(५—७)

'जो परम सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील साधकोंको कलशके जलके सदृश सुलभ होनेवाले हैं, जिनके चरण समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले हैं, सुन्दर पक्षयुक्त गरुड जिनके स्वरूप हैं, जो प्रजाजनोंके पाप-ताप हरनेवाले तथा विश्वके आश्रय हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि-मध्य-अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित, बीज एवं वीर्य धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य एवं परात्पर परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ। जो तीनों लोकोंका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है, जो ज्ञानी नरेशोंमें प्रधान

हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामनस्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ' ॥ ५—७ ॥

देवर्षि नारद—

देवर्षि नारद श्रीयुधिष्ठिरसे श्रीमद्भागवत (७ । १५) में कहते हैं—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥ ७५ ॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥ ७६ ॥
न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥ ७७ ॥

"युधिष्ठिर ! इस मनुष्यलोकमें तुमलोग बड़े ही सौभाग्यशाली हो; क्योंकि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यके रूपमें तुम्हारे घरमें गुप्तरूपसे निवास करते हैं । इसीसे संसारभरको पवित्र कर देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करनेके लिये चारों ओरसे तुम्हारे पास आया करते हैं । बड़े-बड़े महापुरुष, जिन मायाके लेशसे रहित परम शान्त परमानन्दानुभवस्वरूप परब्रह्म परमात्माको ढूँढ़ते रहते हैं, वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूजनीय, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं । शंकर, ब्रह्मा आदि भी अपनी सारी बुद्धि लगाकर 'वे वह हैं'—इस रूपमें उनका वर्णन नहीं कर सके, फिर हम तो कर ही कैसे सकते हैं ? हम तो मौन, भक्ति तथा संयमके द्वारा ही उन श्रीकृष्णकी पूजा करते हैं । वे भक्तवत्सल भगवान् हमारी यह पूजा स्वीकार करके हमपर प्रसन्न हों" ॥ ७५—७७ ॥

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण—

भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(५ । २९)

'अर्जुन ! मेरा भक्त मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला और सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद्—स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है' ॥ ५ । २९ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥
(७ । २५-२६)

'अपनी योगमायासे समावृत मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है । अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परंतु मुझको कोई भी पुरुष नहीं जानता है' ॥ ७ । २५-२६ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
(८ । ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है' ॥ ८ । ५ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(७ । ७)

'धनंजय ! मुझसे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है' ॥ ७ । ७ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥
(९ । ४—६)

'अर्जुन ! मुझ अव्यक्तमूर्ति परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत स्थित हैं, इसलिये

वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और वे सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी योगमाया और प्रभावको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है; क्योंकि जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पके द्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान' ॥ ९ । ४–६ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
(९ । १६–१८)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
(१० । ३, ८)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(१० । २०, ४१-४२)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
(१५ । १२)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥
(१५ । १५)

क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञादि स्मार्तकर्म मैं हूँ; स्वधा अर्थात् पितरोंके निमित्त दिया जानेवाला अन्न मैं हूँ, ओषधि अर्थात् सब वनस्पतियाँ मैं हूँ एवं मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ । अर्जुन ! मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण-पोषण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता-माता और पितामह हूँ और जाननेयोग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ । प्राप्त होने योग्य तथा भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका निवासस्थान और शरण लेनेयोग्य तथा प्रति-उपकार न चाहकर हित करनेवाला और उत्पत्ति-प्रलयरूप तथा सबका आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ' ॥ ९ । १६—१८ ॥

'जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित और अनादि तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है । मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं' ॥ १० । ३, ८ ॥

'अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ । अर्जुन ! जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान । अथवा अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ । इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये' ॥ १० । २०, ४१-४२ ॥

'अर्जुन ! सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज जान' ॥ १५ । १२ ॥

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ' ॥ १५ । १५ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(१५ । १८-१९)

'मैं नाशवान् प्राणियोंसे सर्वथा अतीत हूँ और अक्षर (ब्रह्म) से उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ। भारत! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है' ॥ १५ । १८-१९ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८ । ६४-६५)

'अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय, मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन; क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा। तू मुझमें ही मन लगानेवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर। यों करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा। यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करके तुझसे कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है' ॥ १८ । ६४-६५ ॥

ऐश्वर्य-लीला

उपर्युक्त प्रसङ्गोंके उद्धृत वाक्योंसे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीकृष्णके समकालीन महान्-से-महान् पुरुष उन्हें साक्षात् परात्पर भगवान् समझते थे और उन्होंने स्वयं भी अपनी परात्परता, भगवत्ता तथा सर्वाश्रयताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। उनके मङ्गलमय आविर्भावके समयसे अलौकिक अद्भुत चमत्कारपूर्ण लीलाएँ आरम्भ हो गयी थीं—पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, अघासुर आदिका उद्धार, गोवर्धन-धारण, कालियदमन, सुरपति इन्द्रके गर्वज्वरका हरण, चतुर्मुख ब्रह्माके ज्ञानदर्प तथा मोहका शमन, माता यशोदाको मुखमें विश्वदर्शन, कुबेरपुत्रोंका वृक्षयोनिसे उद्धार, कंस-उद्धार आदि ऐश्वर्यप्रधान आश्चर्य-लीलाएँ हुईं। कुल चौंसठ दिनोंमें उन्होंने चारों वेद, छहों वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—आलेख्य, गणित; संगीत तथा वैद्यक; पचास दिनोंमें दसों अङ्गोंसहित धनुर्वेद और बारह दिनोंमें हाथी, घोड़े आदिकी शिक्षामें पारङ्गत होनेकी लीला की। फिर गुरुदक्षिणामें सांदीपनि मुनिके मृतपुत्रको ला दिया।

माधुर्य-लीला

इस प्रकार भगवत्ताकी अलौकिक लीलाओंके परिपूर्ण आदर्श जीवनके साथ ही श्रीकृष्णमें मानवताके सभी चरम और परम सद्गुणोंका पूर्ण प्रकाश था। श्रीयशोदा, रोहिणी तथा अन्यान्य मातृस्थानीया वात्सल्यरसमयी गोपदेवियोंको पुत्र-सुखप्रदान, सखाभावसे गोपबालकोंके साथ सम्भ्रमरहित निःसंकोच क्रीडा, वत्स-गो-चारण, गोपाङ्गनाओंके साथ पवित्र मधुर लीला, मधुर मुरली-वादन आदि व्रजकी मधुर लीलाएँ प्रसिद्ध हैं।

परस्परविरोधी गुण

पिता-माता वसुदेव-देवकीकी सेवा करना और उन्हें ज्ञानोपदेश देना, पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें समागत अतिथियोंके चरण-प्रक्षालन करना और उसी यज्ञमें अग्रपूजन-अर्घ्य स्वीकार करना, अर्जुनका रथ हाँकना और वहीं महान् आचार्य तथा साक्षात् भगवद्रूपसे गीताका उपदेश देना, नारदादि ऋषियोंका पूजन करना और साथ ही उनके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करना प्रभृति परस्पर-विरोधी गुणोंका भगवान् श्रीकृष्णमें एकत्र समावेश प्रत्यक्ष था।

आदर्श मानवता तथा सर्वगुणसम्पन्नता

श्रीकृष्ण गानविद्या तथा नृत्यकलाके निपुण ज्ञाता थे। महान् योगीश्वरेश्वर तथा योगेश्वरेश्वर थे। विलक्षण वाग्मी थे—इसीसे जब आप पाण्डवोंकी ओरसे संधि-प्रस्ताव लेकर कौरव-सभामें गये थे, तब हजारों-हजारों ज्ञानी, विद्वान्, तपस्वी ऋषि-महर्षि-मुनि आपका भाषण सुननेके लिये अपने एकान्त आश्रमोंको त्यागकर वहाँ एकत्र हुए थे। श्रीकृष्ण दीन-दुखी-दुर्बलोंके सच्चे सेवक तथा हितैषी थे। राजप्रासादके स्वादिष्ट छप्पन भोगका परित्याग कर विदुरजीकी कुटियामें स्वयं जाकर विदुरपत्नीके दिये हुए साग-सब्जी या केलेके छिलकोंका भोग लगाना,

सुदामाके चिउरोंको मुट्ठी भरकर खड़े-खड़े फाँक जाना, मिथिलाराज बहुलाश्वके साथ ही गरीब ब्राह्मण श्रुतदेवके घरका आतिथ्य स्वीकार करना आदि आपके आदर्श लीलाचरित्र हैं ।

आदर्श राजनीतिज्ञता

भगवान् श्रीकृष्णके समान आदर्श तथा कुशल राजनीतिज्ञ तो कोई हुए ही नहीं । उनकी राजनीति-निपुणता तथा पवित्र राजनीतिज्ञताकी कहीं कोई उपमा नहीं है । उसमें आदर्श त्याग, न्याय, सत्य, दया, उदारता, यथार्थ लोकहित तथा विलक्षण जनकल्याण आदि सद्भावोंका पूर्ण विकास है । उनकी राजनीति पाशविकता और आसुरभावका नाश करके सर्वहितकारिणी विशुद्ध मानवता तथा दैवीभावका संस्थापन करनेवाली है । उसमें कहीं भी व्यक्तिगत स्वार्थ, नीच महत्त्वाकाङ्क्षा, नीचाशयता, अभिमान, द्वेष, अधिकारमद, कुर्सीका मोह, ईर्ष्या तथा भोगप्रधानताको स्थान नहीं है । 'इस लोकमें सर्वाङ्गीण अभ्युदय तथा परम निःश्रेयस्—मोक्षकी प्राप्ति' उसका अमोघ फल है । भगवान् श्रीकृष्ण बड़े-बड़े सम्राटोंके अधिपति तथा पूज्य हैं । न्यायपूर्ण धर्मप्राण आदर्श राज्यों तथा राजाओंके कुशल निर्माता हैं, पर स्वयं किसी भी पद-पर आसीन नहीं हैं; वे सदा ही जनसेवक हैं । उनकी राजनीतिको आदर्श मानकर उसे ग्रहण किया जाय तो आज जिस द्वेष-दम्भपूर्ण परोत्कर्ष-असहिष्णु, पदलोलुपता-प्रधान, नीचता तथा क्षुद्र वञ्चस्वार्थसे पूर्ण जघन्य राजनीतिके कारण सारे जगत्में जो घोर मनोमालिन्य, पाशविक तथा आसुरिक कलह, बढ़ती हुई अशान्ति, जनसाधारणकी भयभीत स्थिति तथा विध्वंसक शस्त्रास्त्रोंके निर्माणमें विज्ञानका दुरुपयोग हो रहा है, वह तत्काल दूर होकर जगत्में शान्तिस्थापन तथा मानवजातिका कल्याण हो सकता है ।

हमारा यह परम सौभाग्य है कि हमें आज भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्य-महोत्सवके उपलक्ष्यपर भगवान्‌के दिव्य स्मरण करने तथा भगवान्‌के गुण-महत्त्वकी मङ्गल-चर्चा करनेका सुअवसर मिला है । जगत्का भी यह परम सौभाग्य है कि उसे भगवान् श्रीकृष्णके लीलाचरित्रका आदर्श उपलब्ध है । हमारा परम कर्तव्य है कि हम भगवान् श्रीकृष्णका भजन-स्मरण करें, उनके श्रीचरणोंमें मन लगावें और अपने-अपने अधिकार तथा रुचिके अनुसार ज्ञानयोग, भक्तियोग, सतत नाम-गुण-कीर्तन, सर्वकालमें उनका अखण्ड स्मरण, प्रीतिपूर्वक अनन्य भजन, उनके अपने आदर्शके अनुसार निष्कामकर्मका अनुष्ठान, उनका स्वरूप समझकर प्राणीमात्रकी स्वकर्मके द्वारा सेवा एवं अनन्य शरणागति आदिके द्वारा उनको संतुष्ट करें और उनकी कृपासे मानव-जीवनको सफल बनायें । कम-से-कम प्रेमपूर्वक उनकी दिव्यलीलाओंका अधिक-से-अधिक श्रवण, गायन, स्मरण करके अपने तन-मन-वाणीका सदुपयोग करें । देवी कुन्तीजीने तो भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका यही प्रयोजन बतलाया है—

> भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।
> श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥
> शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
> स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
> त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
> भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥
> (श्रीमद्भा० १ । ८ । ३५-३६)

'इस संसारमें लोग अज्ञान, कामना तथा कर्मोंके-कुचक्रमें पड़े हुए पीड़ित हो रहे हैं । उन लोगोंके लिये श्रवण तथा स्मरण करनेयोग्य लीला करनेके लिये ही आपने अवतार लिया है । भक्तजन बार-बार आपकी मधुर दिव्य लीलाओंका श्रवण, गायन, कीर्तन तथा स्मरण करके आनन्दित होते रहते हैं और वे अविलम्ब इस जन्म-मरणके प्रवाहको शान्त करनेवाले आपके श्रीचरण-कमलोंका दर्शन प्राप्त करते हैं ।'

> जय वसुदेव-देवकीनन्दन, जय श्रीनन्द-यशोदालाल ।
> जय यदुनायक गीतागायक, जय गोपीप्रिय जय गोपाल ॥
> बोलो नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय !

गोदुग्ध और गोबरका वैज्ञानिक महत्त्व

(लेखक—श्रीनारायणस्वरूपजी शर्मा—संसद्-सदस्य)

कुछ दिनों पहले मैं भारत सरकारके केन्द्रिय सूचना-मन्त्री श्री के. के. शाहसे मिलनेके लिये गया। अचानक ही मैं मजाकमें पूछ बैठा कि 'आपके पास कुछ ऐसे आँकड़े भी तो होंगे, जिनसे यह सिद्ध हो सकता हो कि 'गायका मारा जाना हमारे नुकसानमें है और उपयोगिताकी दृष्टिसे गायका रखना आवश्यक है।'

'अरे, हाँ-हाँ, क्यों नहीं।' शाहजीने कहा—'कुछ महीने पहले रूसके वैज्ञानिकोंका एक शिष्टमण्डल भारतमें आया था। उसके लीडर रूसके एक बहुत बड़े वैज्ञानिक थे—शिरोविच या विरोविच; पता नहीं क्या ! मुझे ठीकसे रूसी नाम याद नहीं रहते। पर वे उस शिष्टमण्डलके नेता थे और रूसके बहुत बड़े वैज्ञानिक थे। उन्होंने ही मुझे बताया।'

'क्या बतलाया ?' मैंने उत्सुक होकर पूछा।

'यही कि गायके दूधमें एटामिक रेडिएशनसे रक्षा करनेकी सबसे अधिक शक्ति है। अगर गायके घीको आग-पर डालकर धुआँ उठाया जाय, यानी हिंदुस्तानी भाषामें हवन किया जाय, तो उससे वायुमण्डलमें एटामिक रेडिएशनका प्रभाव बहुत कम हो जायगा।'

'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है'—मेरे मुँहसे निकला।

'यही नहीं', उन्होंने कहा, 'अगर मकानोंके ऊपर गायका गोबर लीप दिया जाय, तो मकानके अंदर रेडिएशनका घुसना बहुत कठिन हो जायगा।'

मेरे मुँहसे निकल पड़ा—'आप सच कह रहे हैं ?'

'मैं सच कहता हूँ। रूसी वैज्ञानिकने मुझे बतलाया था कि गायके पञ्चगव्योंपर अभी भी वहाँपर रिसर्च चल रहा है और यह सूचना उस रिसर्चका ही परिणाम है।'*

पढ़ो, समझो और करो

(१)

न मे भक्तः प्रणश्यति

प्रथम सिख-युद्धमें विजयी होकर अंग्रेजोंने सिख-राज्यको सत्ताहीन करनेकी नीतिके अनुसार कश्मीरका राज्य सिख-सरकारसे लेकर जम्मूनरेश महाराजा गुलाबसिंहको पचहत्तर (७५) लाख रुपयेमें बेच दिया था। इसके दो कारण थे—प्रथम तो यह था कि अंग्रेजोंके अपने राज्यसे कश्मीर जानेके लिये पंजाबके स्वाधीन सिख-राज्यको पार करनेके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं था और कोई स्वाधीन राज्य किसी विदेशी राज्यकी सेना तथा कर्मचारियोंको अपने देशमें स्वच्छन्द आवागमनकी आज्ञा दे नहीं सकता। द्वितीय, यह कि ये लोग कश्मीरकी उर्वरा भूमि तथा उत्तम जलवायुसे अनभिज्ञ थे। जब द्वितीय सिख-युद्धके फलस्वरूप सारा पंजाब इनके हाथमें आ गया, तब इन्होंने अनुभव किया कि सारे भारतमें यदि कोई देश ऐसा है कि जहाँ अंग्रेज लोग सदाके लिये बस सकते हैं तो वह कश्मीर ही है।'

महाराजा प्रतापसिंहसे कई बार अंग्रेजोंको कश्मीरमें भूमि लेकर बसनेकी आज्ञा दी जानेके लिये अनुरोध किया गया; किंतु उन्होंने इस प्रस्तावको युक्तिपूर्वक टाल दिया। महाराजमें कोई ऐसा व्यसन नहीं था, जिसका सहारा लेकर उनको दुश्चरित्र बनाया जाता और राज्यका प्रबन्ध भी सुचारुरूपसे चल रहा था। इसलिये दुःशासन तथा अव्यवस्थाका दोष लगाकर भी महाराजको राज्यच्युत नहीं किया जा सकता था। कश्मीरकी उत्तरीय सीमा रूसके सम्राट् जारकी सीमाके साथ लगती थी। उस समय अंग्रेजोंको यह भय था कि रूस ही एक ऐसी शक्ति है, जो भारतको हमसे छीन सकती है। रूसका स्थान शत्रुओंमें प्रथम था। वायसराय और अंग्रेज रेजीडेन्टने एक षड्यन्त्र रचा। वायसरायकी गुप्त आज्ञासे महाराजाकी ओरसे रूसके जारके नाम पत्र कपटकूटसे बनाये गये तथा उन पत्रोंको पकड़ लिया गया एवं इसके फलस्वरूप महाराजको अधिकारच्युत कर दिया गया। महाराजके प्रिय तहसीलदारके पुत्रने, जो वायसरायके कार्यालयमें सहायक सचिव था, इस षड्यन्त्रकी सूचना महाराजको बहुत पहले दे दी थी। वह महाराजको अपना 'धर्मपिता' मानता था।

जब यह बात फैल गयी तो एक सुहृद्ने पूछा 'अब क्या होगा ?' महाराजने उत्तर दिया—'नरकका पथ छूटेगा। राज्यधन तो वेश्याके धनके समान है। बिना गाढ़ा परिश्रम

---

*श्रीराजपाल एण्ड सन्स, दिल्लीके द्वारा प्रकाशित 'कौन सुने, कौन सुनावे' पुस्तकके पृष्ठ १३९-१४० से साभार उद्धृत।

किये जो धन प्राप्त होता है, वह मनुष्यको जन्म-जन्मान्तरमें नरकमें ले जानेका कारण बनता है। पूर्वजन्मके पापोंके फलस्वरूप मैं राजा बना। इस कारणसे मैं स्वयं खेती करके अन्न नहीं उपजा सकता, न अपने शरीरके लिये वस्त्र बुन सकता हूँ अथवा अन्य प्रकारसे स्वावलम्बी बन सकता हूँ। अतः राजगद्दीसे उतार दिया जाऊँ तो मैं अपनेको भाग्यशाली मानूँगा। मैं मानता हूँ कि राजकीय संस्कार दुःखके कारण बन सकते हैं; क्योंकि अब ये मेरे अहंकारका पोषण करते हैं और मुझे अच्छे लगते हैं; किंतु मैं पाँच-सात एकड़ धरतीपर कृषि करके सुख मानूँगा। फिर मुझे गोभक्षक वायसरायके सामने सिर झुकाकर अपने धर्मकी अवहेलना भी नहीं करनी पड़ेगी।'

यथासमय जब महाराज प्रतापसिंहको गद्दीसे उतार दिया गया और राज्य-प्रबन्ध एक राज्यसमितिके, जिसमें प्रायः राज्यके बाहरके ही लोग थे, अधीन कर दिया गया; महाराजको कुछ दुःख नहीं हुआ; क्योंकि शरणागत भक्त तो हर स्थितिमें प्रसन्न ही रहता है। वह जानता है कि मेरे प्रभु, 'मेरे लिये जो कुछ करते हैं, उसीमें मेरा वास्तविक भला है।'

उस समय भारतकी राजधानी कलकत्ता थी और कलकत्ताके प्रसिद्ध समाचारपत्र अमृतबाजारपत्रिकाके स्वनाम-धन्य सम्पादक श्रीमोतीलाल घोषके कानोंमें किसी भाँति यह भनक पड़ गयी कि महाराज नितान्त निर्दोष हैं और जो कुछ हुआ है, यह स्वार्थ तथा कूटनीतिजनित षडयन्त्र है। अब प्रश्न हुआ कि यह बात प्रमाणित तभी हो सकती है कि जब इस षडयन्त्रके कागजातकी असली फाइल हाथ लगे। उस समयके प्रसिद्ध क्रान्तिकारी देशभक्त सूफी अम्बा-प्रसाद भगवत्प्रेरणासे सम्पादक बाबू श्रीमोतीलालसे मिले और उन्होंने मेजर पकल रेजीडेण्टके कार्यालयसे यह फाइल प्राप्त करनेकी योजना बनायी। वे मेजर पकलके पास बेहरा (निजी भृत्य) का स्थान प्राप्त करनेमें सफल हो गये। यद्यपि वे मूक बने हुए थे, किंतु अपने कार्यकौशलसे उन्होंने शीघ्र ही मेजरका विश्वास प्राप्त कर लिया। वह उनको अन्य बेहरोंकी भाँति अशिक्षित समझता था, इसलिये गुप्त सिलों तथा फाइलोंकी उठाधरी भी उन्हींसे कराता था। एक दिन मेजर पकलकी अनुपस्थितिमें सूफी साहबने फाइल प्राप्त कर लिये और उन्हें लेकर वे बाबू मोतीलालके पास पहुँचे। बस, फिर क्या था—'अमृतबाजारपत्रिका'में आरम्भसे लेकर वायसराय और रेजीडेण्ट मेजर पकलका पत्रव्यवहार क्रमशः प्रकाशित होने लगा और सारे देशमें तहलका मच गया। उधर इंगलैण्डमें भारतसचिवका पार्लमेण्टके मेम्बरोंने प्रश्नोंसे बुरा हाल कर दिया। मेजर पकलको तत्काल इंगलैण्ड बुला लिया गया। महाराजा प्रतापसिंहको पुनः गद्दी मिली और सारे जम्मू-कश्मीर राज्यमें प्रसन्नताके कारण आनन्दकी बाढ़ आ गयी। यदि कोई व्यक्ति प्रसन्न नहीं था तो वे महाराजा प्रतापसिंह स्वयं थे। उन्होंने अपने सद्गुरु स्वामी नित्यानन्दजीके सामने अपने भाव इस रूपमें व्यक्त किये—'प्रभुने फिर मुझे नरकके पथपर ढकेल दिया है। उनकी इच्छा पूर्ण हो।' स्वामीजीने कहा—'सुचारुरूपसे राज्यका कार्य करनेसे स्वर्गका मार्ग प्रशस्त हो जाता है।' महाराजने उत्तर दिया—'राज्यसे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकारके कारण अन्यायका उदय होता है जो सीधा नरकमें ले जाता है।'

तत्त्वकी दृष्टिसे महाराजका यह वचन सत्य है; किंतु महाराज प्रतापसिंहसे भी अहंकार अन्याय करा सकता है, यह पाठक निम्न घटनासे स्वयं निश्चय करें।

महाराज प्रजाके मनमें क्या है—यह जाननेके लिये भेष बदलकर अकेले ही ग्रामोंमें घोड़ेपर सवार होकर घूमा करते थे। एक दिन घूमते-घूमते प्यास लगनेपर जलके लिये एक तालाबपर पहुँचे। वहाँ एक युवक स्वच्छ वस्त्र पहिने तटपर बैठा था। महाराजने जल पिया, अश्वको पिलाया और एक पत्थरपर बैठकर युवकसे वार्तालाप करने लगे। महाराजने पूछा—'कहाँ जा रहे हो ?'

उ०—'जम्मू जा रहा हूँ।'

प्र०—'किस मुहल्लेमें ?'

उ०—'भंगियोंकी ठट्ठीमें।'

प्र०—'क्या काम है वहाँ ?'

उ०—'मैं लछमी मेहतरानीका जामाता हूँ और बहूको लिवाने जा रहा हूँ।'

महाराजने कहा—'मैं लछमीका घर जानता हूँ, (लछमी इनके महलकी मेहतरानी थी) तू घोड़ेपर बैठ जा, मैं तुझे लछमीके घर छोड़ आऊँ।' वह युवक घोड़ेपर बैठ गया और ये लगाम पकड़कर उसे भंगियोंकी ठट्ठीमें ले गये। लछमी, उसके पति तथा पुत्रोंने महाराजको पहचान लिया और उन सभीने उनके चरणोंमें गिरकर कहा कि 'इस बालकसे महान् अपराध हो गया। आप भगवान्‌के रूप हैं जो इसके घोड़ेकी

लगाम पकड़कर आये। यह हमारा पाप कैसे धुल सकेगा?'

महाराजने उत्तर दिया—'क्या तुम्हारी बेटी मेरी बेटी नहीं? मुझे तो प्रभुने यह तुच्छ सेवाका उपहार दिया है। मेरी सेवा तुम्हारी उस सेवाका करोड़वाँ भाग भी नहीं, जो तुम राज्यमहलमें करती हो।' इसी बीच ठक्केके और सारे मेहतर वहाँ एकत्र हो गये। महाराजकी जय-जयकारसे आकाश गूँज उठा। महाराजके नयनोंमें जल आ गया और वे कहने लगे कि 'जय-जयकारके योग्य तो इस संसारमें केवल एक मेरे प्रभु हैं, मैं नहीं।'

'बोलो भक्तवत्सल भगवान्‌की जय!'

—निरञ्जनदास धीर

(२)

आदर्श आचरण

रामरतन, रामजसराय और दुर्गादत्त* तीन भाई थे। इनके पिताने अपनी जीवनकालमें ही सम्पत्तिका बटवारा कर दिया था तथा व्यापारके काम भी बाँट दिये थे। तबसे ये अलग-अलग व्यापार करते थे। तीनों भाइयोंमें बहुत प्रेम था। बड़े भाई रामरतनको संग्रहणीकी बीमारी हो गयी, शरीर क्रमशः क्षीण होने लगा। इनके दो बहुत छोटे-छोटे लड़के थे। पत्नी कुछ भोले स्वभावकी थी। उस समय वसीयतनामा आदि बनानेकी चाल प्रायः नहीं थी। इनका अपने भाइयोंपर बहुत विश्वास था। अतः सारी चल-अचल सम्पत्ति तथा व्यापार छोटे भाई रामजसराय और दुर्गादत्तके नाम दान तथा बेचान करके उन्हें मालिक बना दिया। इन्हें पूरा विश्वास था कि मेरे भाई अपनी भाभी तथा दोनों बच्चोंका अच्छी तरह पालन-पोषण करेंगे, बच्चोंको पढ़ायें-लिखायेंगे और बालिग होनेपर कानूनी काम पूरा करके सारी सम्पत्ति उनको लौटा देंगे। बात भी यही थी। दोनों छोटे भाइयोंने भी यही समझकर बड़ी शुद्ध नीयत और भाईके परिवारकी सेवाकी भावनासे ही यह काम किया था। उनका यही पवित्र स्वार्थ था। यह बात रामरतनने अपनी पत्नीको नहीं बतलायी थी कि भोले स्वभावसे वह कहीं कुछ कह न दे। उससे इतना ही कहा था कि 'तुम्हारे देवर माताकी तरह तुम्हारी सेवा करेंगे।'

रामरतन मर गये। रामजसराय तथा दुर्गादत्त भाभीकी माँकी तरह पूर्ण रूपसे सेवा-सँभाल करने लगे। बच्चे पढ़ने लगे। लगभग दस-बारह वर्ष यों बीत गये। दैवयोगसे रामजसराय बीमार हो गये। उन्हें फिट आने लगे। एक दिन फिटके समय उनकी बाहरी चेतना जाती रही। घरवालोंने समझा, ये अब जीवित नहीं रहेंगे। इनका लड़का सुबोध बड़ा हो गया था। उसने वकालत पास की थी। कुछ कुसङ्गमें पड़ गया था। उधर श्रीदुर्गादत्तके व्यापारमें नुकसान लगा था। रामजसरायकी बेहोशीके समय दुर्गादत्त आये हुए थे। उस समय सुबोधने उनसे कहा—'चाचाजी! आपको घाटा लगा है और हमारे घरमें भी इधर ठीक नहीं चल रहा है। पिताजी दान-पुण्यमें धन उड़ा रहे हैं। मैं कानून जानता हूँ। ताईजीको तो कुछ पता है ही नहीं; सम्पत्ति सारी तथा व्यापार आपके और पिताजीके नामपर है ही। मैं सब कानूनी कार्रवाई ठीक कर दूँगा। यह सम्पत्ति आप मेरे तथा अपने लड़कोंके नाम करा दीजिये। पिताजीको समझा दिया जायगा कि यह सब बड़े ताऊजीकी सम्पत्तिकी रक्षाके लिये किया जा रहा है। दुर्गादत्तने पहले तो स्वीकार नहीं किया, पर घाटा लगा था, लोगोंका कर्ज चुकाना था, इसलिये वे भी मान गये। बात पक्की हो गयी।'

इधर रामजसरायजी बाहरसे तो बेहोश-से थे। वे बोल नहीं पाते थे। परंतु भीतर चेतना थी। उन्होंने चचे-भतीजेके षडयन्त्रकी बात सुनी। तीन घंटे बाद होश आया और होश आनेपर उन्होंने सबसे पहला काम यह किया कि भाई दुर्गादत्तको बुलाकर उससे कहा—'मैंने तुमलोगोंकी सारी बातें सुन ली हैं। सुबोध तो नालायक कुलकलङ्क है, पर तुम्हारी बुद्धि क्यों मारी गयी? बड़े भाईकी आत्माके साथ विश्वासघात करनेका यह महापाप करनेकी बात तुमने कैसे मान ली? यह धनसम्पत्ति साथ जायगी? नरकोंमें जाना पड़ेगा। तुम्हारे घाटा है तो तुम मुझसे रुपये ले जाओ। मेरे पास जो कुछ है, तुम्हारा ही है। मैं इस नालायक लड़केको समझाकर हार गया। यह बेईमानी-चोरी करनेमें गौरव मानता है और उसे चतुराई समझता है। इसीलिये मैं दान-पुण्य करता हूँ। मेरे रुपये तुम्हारे काम आ जायँगे तो बड़े संतोषकी बात होगी।' दुर्गादत्त रो पड़े। पश्चात्तापसे उनका शरीर काँपने लगा। भाईके पूछनेपर उन्होंने पाँच लाखका घाटा बताया। उसी समय रामजसरायने सात लाख रुपये देनेकी व्यवस्था कर दी। पाँच लाख कर्ज चुकाने तथा दो लाख व्यापार चलानेके लिये।

* नाम बदले हुए हैं। घटना सत्य है।

बड़े भाईकी सम्पत्तिका नफा-व्याज आदिसमेत सारा हिसाब निकाल करके सत्रह लाख साठ हजार नकद तथा दो इमारतें और एक बगीचा उनके हिस्सेके थे, सब बड़े भाई-के दोनों बालकोंके नाम करवा दिये। वे बालिग हुए ही थे और सम्पत्तिकी देख-रेखके लिये एक अस्थायी संरक्षक कमेटी बना दी, जिसमें शहरके तीन बहुत ईमानदार बड़े व्यापारी तथा दो उच्च अधिकारी थे।

उधर सुबोधको एक लाख रुपये देकर उससे फारखती लिखवाकर उसको अलग कर दिया और अपनी सारी सम्पत्ति दानखातेमें लगा दी। पत्नीका देहान्त पहले ही हो चुका था।

तदनन्तर वे काशी जाकर सच्चे मनसे भजन करने लगे और तीन वर्ष बाद वहीं भगवान्‌का नाम लेते-लेते नश्वर शरीरका त्याग करके परमधामको पधार गये।

—शिवकुमार गुप्त

(३)

मैं समझ लूँगा कि मेरे दो रुपये कहीं गिर गये !

विवाहादिका मौसम जोरोंसे चल रहा था। व्यापारियोंके खरीददारोंकी भरमार थी। चीनीकी ग्राहकी बढ़ रही थी।

चीनीके एक व्यापारीके यहाँ दुपहरके बाद तीन बजे एक आदमी आया। उसने व्यापारीको एक चिट्ठी दी। वह एक खुदरा माल खरीदनेवाले व्यापारीकी थी। इसमें जल्दी की गयी थी—'इस पत्रके मिलते ही तुरंत अपने किसी विश्वासी लारीवालेके साथ तीन बोरे चीनी भेज दीजिये। काममें अवकाश न मिलनेके कारण मुझे ऐसा करना पड़ रहा है।' चीनीके व्यापारीने चिट्ठी लानेवालेसे कहा—'हम उन भाईको पहचानते हैं, तुम जाओ। हम तुरंत ही बोरे भेजते हैं।'

चिट्ठी लानेवाला चला गया। कुछ देर बाद उस छोटे व्यापारीका फोन आया कि 'मैंने तीन बोरे चीनी भेजनेके लिये चिट्ठी भेजी है, अतएव तुरंत ही चीनी भेज दें, एक विवाहवालेको देनी है।' फोन मिलते ही चीनीके व्यापारीने अपने सदाके लारीवालेको बुलवाया। लारीवालेको चीनीके बोरे दिये और ठिकाना बतला दिया। यह लारीवाला इसके पहले कई बार उस छोटे व्यापारीके यहाँ जा चुका था, अतः उसकी दूकान देखी हुई थी।

लारीवाला चला, कुछ दूर जानेपर एक आदमी मिला; उसने पूछा—'अमुक भाईके यहाँ चीनीके बोरे ले जा रहे हो न ?' लारीवालेने कहा—'हाँ'। 'ठीक, चलो मैं मालिकके वहाँसे आ रहा हूँ। उन्होंने कहा है कि हमने अभी चीनी मेज दी है। मुझे चीनी लेनेके लिये ही भेजा है।' उस आदमीने कहा। 'चलो' तब लारीवालेने कहा। थोड़ा चलनेके बाद एक मोड़ आनेपर वह आदमी बोला—'भाई लारीवाले! देखो जिनके यहाँ चीनी ले जा रहे हो, उन्होंने मुझसे कहा है कि यहीं पासमें ही किसी ग्राहकको चीनी देनी है। इसलिये तुम इधर चलो। मैं तुम्हें घर बताता हूँ, वहाँ तुम चीनीके बोरे उतार दो।' 'ऐसा नहीं होगा—आपको जिस आदमीने भेजा है, उसके यहाँ मैं बहुत बार गया हूँ, उस व्यापारीको पहचानता हूँ। फिर मुझे तो जो ठिकाना दिया गया है, मैं वहीं ले जाऊँगा। व्यर्थ गड़बड़ मत कीजिये। आप अपना रास्ता पकड़िये। मैं आपको पहचानता भी नहीं हूँ। हो सकता है कदाचित् उस व्यापारीने आपको भेजा होगा तथा ऐसा कहा भी होगा, पर जिस सेठने यह चीनी भेजी है, उसको मैं क्या जवाब दूँगा।' उस लारीवालेने कहा।

लारीवालेका स्पष्ट उत्तर सुनकर वह आदमी लारीवालेके दृढ़ निश्चयको समझ गया।

'तब तुम जाओ, भटककर वापस आ जाना।' उस आदमीने कहा। लारीवालेने लारी आगे बढ़ाकर पीछेकी ओर देखा तो वह आदमी लापता था। कहाँ छिप गया, दीखा ही नहीं।

लारीवाला बताये पतेके अनुसार दूकानपर पहुँचा तो उसने आश्चर्यसे दूकानको बंद पाया। पड़ोसमें पूछनेपर पता लगा कि 'यह दूकान चार दिनोंसे बंद है।' सद्भाग्यसे इसी बीच दूकानका मालिक वहाँ आ गया और अपनी दूकानके आगे चीनीके तीन बोरे देखते ही बोला—'ये चीनीके बोरे किसने मँगवाये थे ?' लारीवालेने बोरे भेजनेवाले व्यापारीका कागज दिया, और सब बातें बतायीं।

उस व्यापारीने कहा—'किंतु मैं तो चार दिनोंसे विवाहमें गया हुआ था। दूकान खोली ही नहीं, न मैंने कोई आदमी भेजा, न चिट्ठी भेजी और न फोन ही किया।'

लारीवालेने रास्तेमें मिलनेवाले उस आदमीकी बात बतायी, तब तो सब भेद खुल गया। वह व्यापारी समझ

गया कि उसके नामसे किसी ठगने यह सारा जाल रचा है ।

उसी समय वह लारीवालेके साथ चीनीके बोरेसहित उस चीनीके व्यापारीके पास पहुँचा ।

चीनीके व्यापारीने सारी बातें सुनीं तो उसके आश्चर्यका पार न रहा । चीनीके व्यापारीने उस खुदरा व्यापारीको वह चिट्ठी दिखलायी तथा फोनवाली बात कही । खुदरा व्यापारीको चीनीकी जरूरत थी ही नहीं, अतएव उसने लारीवालेसे कहकर तीनों बोरे वहाँ वापस डलवा दिये । अब प्रश्न आया लारीवालेकी मजूरीका । चीनीके व्यापारीने कहा—'मैंने तो इस चिट्ठीके आधारपर चीनी भेजी थी, इसलिये आपको ही यह मजूरी देनी पड़ेगी ।' खुदरा व्यापारीने कहा—'किंतु मैं तो यह सब कुछ जानता ही नहीं, मैंने चिट्ठी लिखी ही नहीं, मैंने आपसे चीनी जब खरीदा ही नहीं, तो फिर मैं मजूरी किस बातकी दूँ ?' यह सब वाद-विवाद सुनकर लारीवाला बोल उठा—"सेठ ! अब बात न बढ़ाइये । जो कुछ भी हो, अब मुझे मजूरी नहीं चाहिये । मैं समझूँगा कि 'मेरे दो रुपये कहीं गिर पड़े ।'"

उस समय उस चीनीके व्यापारीके यहाँ बैठे हुए एक सम्बन्धीने कहा—'तुम्हारी निष्ठुरताका पार नहीं है । तुम्हारे सैकड़ों रुपयोंके चीनीके बोरोंको बचानेवाला वास्तवमें यह लारीवाला है । रास्तेमें मिलनेवाले ठगके जालमें न फँसकर इसने सावधानी रक्खी, रहस्य खोला । इसको तो तुम्हें पाँच-दस रुपये इनाम देने चाहिये— उसके बदले तुम मजूरीके भी दो रुपये नहीं देते हो । तुमसे तो यह लारीवाला ही ऊँचा है, जो इसे दो आँखोंकी शर्म तो है । इसके हृदयकी यह कितनी उदारता है ?'

किंतु यह सब पत्थरपर पानी था । दूसरी ओर लारीवाला दूसरे व्यापारीकी लारी भरने चला गया था । ('अखण्ड आनन्द') —मो० जयंती प्रो० ठक्कर,

(४)

गृहस्थाश्रमकी महत्ता

एक समय किन्हीं एक जनक राजाको वैराग्य हो गया और वे अपने सारे कर्त्तव्य-कर्मोंको छोड़कर भिक्षुककी भाँति माँगकर मुट्ठीभर सेंके हुए जौ खाकर रहने लगे ।

अपने पतिको इस स्थितिमें रहते देख रानीको बहुत ही दुःख हुआ । वह पतिके पास जाकर बोली—'राजन् ! आपका यह कर्म आपके राजधर्मके विरुद्ध है । आपके ऐसे बर्तावसे अतिथि, देवता, ऋषि और पितृगण बहुत नाराज हैं । आपने उनको छोड़ दिया, तो उन्होंने भी आपका त्याग कर दिया है । आपके जीवनकालमें ही आपकी माता पुत्र-हीन और मैं आपकी पत्नी पतिविहीन हो गयी हैं ।

'आपके पास अबतक सब लोग अपनी भूख-प्यास मिटाने आया करते थे, अब आज आप अपनी भूख-प्यास मिटाने दूसरोंके सामने हाथ फैला रहे हैं । आपने सर्वस्वका त्याग किया है; पर मुट्ठीभर जौके लिये आपको दूसरेकी कृपापर जीना पड़ता है । जब मुट्ठीभर जोकी जरूरत आपको बनी हुई है, तो फिर सर्वत्याग कहाँ हुआ ? ऐसे त्यागमें और राज्यमें भेद कहाँ रह गया ? एक मनुष्य दान करता है और दूसरा सदा दान लेता रहता है, इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है ?

'अन्नसे ही प्राणोंका पोषण होता है, अतएव अन्नदाता प्राणदाता है । गृहस्थाश्रमका त्याग करके भी त्यागी लोग गृहस्थोंके आधारपर ही जी रहे हैं । कुछ लोग तो दान लेने और पेटका पोषण करनेके लिये ही गेरुआ पहनकर निकल पड़ते हैं । ऐसे वासनाओंसे भरे लोग साधुवेशमें भोगोंकी ही खोजमें लगे रहते हैं और त्यागके नामपर भोग भोगते रहते हैं ।

'आपके जैसे दान करनेवाले राजा न हों तो मोक्षके लिये कठोर साधना करनेवाले महात्माओंका पोषण कैसे हो सकेगा ? जो आसक्तिसे रहित हैं, रागद्वेषसे दूर हैं, शत्रु और मित्रमें समभाव रखते हैं और समताके सारे बन्धनोंसे मुक्त हैं—वे गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी साधु हैं—मुक्त हैं ।'

रानीके इन वचनोंके सुननेपर राजाको सत्य स्थिति समझमें आ गयी—वे गृहस्थधर्मका महत्त्व समझ गये और संन्यास ग्रहण करनेका विचार छोड़कर यथाविधि राजधर्मका पालन करने लगे । (दर्शन, फरवरी—७०)

गोवधबंदीका सत्याग्रह

सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समितिकी ओरसे दिल्लीमें नियमित सत्याग्रह चल रहा है। दैनिक सत्याग्रह करनेवालोंकी संख्या बढ़ गयी है। यदि सरकारने ध्यान नहीं दिया तो सत्याग्रहके विशेष जोर पकड़नेकी सम्भावना है। गोरक्षाके इस महान् पुण्यकार्यमें सभी देशवासियोंकी सहानुभूति-सहायता वाञ्छनीय है। दिल्लीका पता है—"सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समिति, धर्मसंघ-कार्यालय, यमुना बाजार २१७२, दिल्ली ६।

गीताप्रेस-सेवादलका सेवा-केन्द्र

राजस्थानमें न्यूनाधिकरूपमें वर्षा हो गयी है। इसलिये गीताप्रेस-सेवादलके सेवा-केन्द्रका कार्य कुछ दिनोंमें बंद होनेकी सम्भावना है। अतएव कृपया कोई भी सज्जन सहायतार्थ कुछ न भेजें।

सुख चाहते हैं तो—

१. सादा-सीधा संयमित जीवन बिताइये और अपनी आवश्यकताओंको खूब घटा दीजिये।
२. प्रत्येक परिणाम या प्राप्त परिस्थितिको परम सुहृद् भगवान्का मङ्गलविधान मानकर उसमें अनुकूल-भावना कीजिये और संतुष्ट रहिये।
३. दूसरोंकी उन्नति देखकर मनमें प्रसन्न होनेकी तथा दूसरोंके दुःखको देखकर दयासे द्रवित होनेकी आदत डालिये।
४. जाति, विद्या, पद, अधिकार, स्वास्थ्य, स्वामित्व आदिका गर्व न करके किसीको अपनेसे नीचा मत समझिये।
५. प्रभुकी अहैतुकी अनन्त कृपापर विश्वास करके सदा अपने सुखमय उज्ज्वल भविष्यकी धारणा कीजिये।
६. विषयोंकी आसक्ति-कामना और ममता-अहंकारका यथासाध्य त्याग कीजिये।
७. निरन्तर प्रभुका परम कल्याणमय नाम-स्मरण करते रहिये।

श्रीकृष्ण-संवत्—५०७० लिखिये

कल्याणके जुलाईके अङ्क पृष्ठ १०३७ में 'भारतमें "श्रीकृष्ण-संवत्" से कालगणना होनी चाहिये'—इस विषयपर एक लेख निकला था। इसपर हमारे पास बहुत-से पत्र आये हैं, जिनमें इस प्रस्तावका समर्थन किया गया है। अतः सबसे निवेदन है कि वे पत्रोंमें तथा बहीखातों आदिमें जैसे विक्रम-संवत् २०२७ लिखते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण-संवत् ५०७० लिखना शुरू कर दें तथा इसका सबमें प्रचार करें।—विनीत—सम्पादक

विद्यार्थी—विश्वनागरिक

मुझे विद्यार्थियोंका जो अनुभव आया, वह अद्भुत ही है। हिंदुस्तानके विद्यार्थियोंके लिये मेरे मनमें बहुत प्रेम है।

× × × ×

विद्यार्थियोंका पहला कर्तव्य यह है कि वे अपना दिमाग अत्यन्त स्वतन्त्र रखें। परिपूर्ण-स्वातन्त्र्यका अगर किसीको अधिकार है, तो वह सबसे ज्यादा विद्यार्थियोंको है।

× × × ×

विद्यार्थियोंका दूसरा कर्तव्य यह है कि वे अपने ऊपर काबू पायें। स्वतन्त्रताका अधिकार वही अपने हाथमें रख सकेगा, जो अपने ऊपर काबू पा सकेगा।

× × × ×

विद्यार्थियोंका तीसरा कर्तव्य यह है कि वे निरन्तर सेवा-परायण रहें। बिना सेवाके ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। यह विश्वास होना चाहिये कि सेवासे ही ज्ञान प्राप्त होता है। सेवासे बढ़कर कोई विद्यापीठ नहीं हो सकता।

× × × ×

विद्यार्थियोंका चौथा कर्तव्य यह है कि उन्हें सब बातोंमें सदा सब प्रकारसे सावधान होना चाहिये। दुनियामें समाजकी जो हलचलें चलती हैं और विभिन्न [illegible] निर्माण होते हैं, उन सबका तटस्थ बुद्धिसे अध्ययन करना चाहिये।

× × ×

विद्यार्थियोंको व्यापक बुद्धिसे सोचना [illegible]ये और यह कहना चाहिये कि हम विश्व-नागरिक हैं। हम विश्व-मानव हैं, विद्याके उपासक हैं, तटस्थ बुद्धिसे सोचनेवाले हैं।—संत विनोबा